जैन भारती

वर्ष 49 • अंक 10 • अक्टूबर, 2001

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

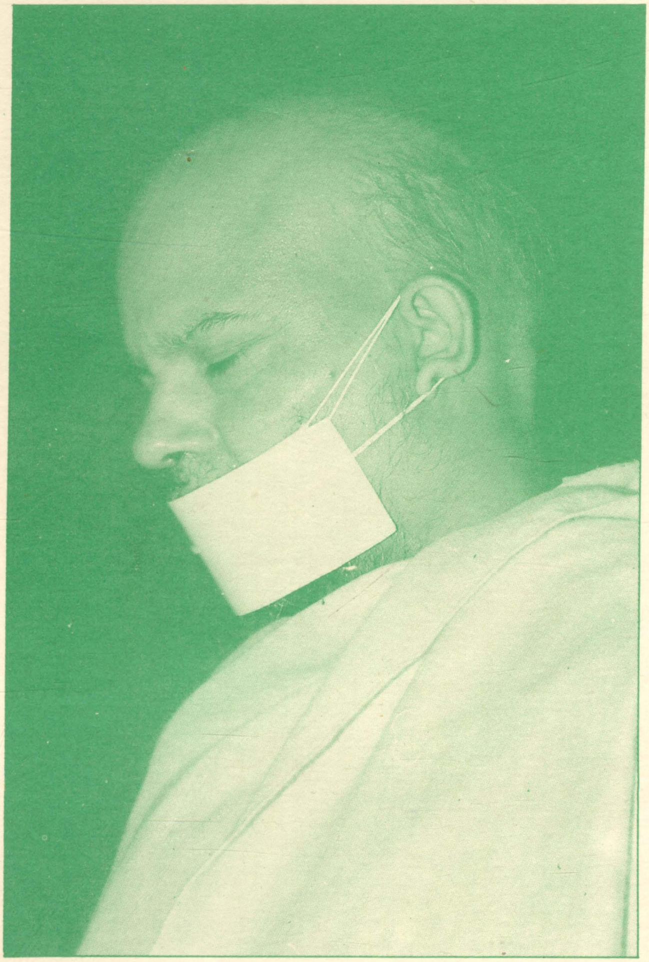

हेमराज श्यामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बचछराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

अक्टूबर, 2001 वर्ष 49 अंक 10 रु. 15.00

विमर्श

9
सन्तोष आचार्य
आत्मतत्त्व : एक समन्वयात्मक विमर्श

15
जैनेन्द्र कुमार
गांधी और जनतंत्र

•

आवरण
अडिग/खेराज

अनुभूति

21
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
मनुष्य जाति एक है

32
साध्वी राजीमति
कायोत्सर्ग : साधना और फल

35
साध्वी कनकश्री
जन धर्म के अभिप्राय

38
कहानी
भीष्म साहनी
अहं ब्रह्मास्मि

44
कविता
राजेन्द्र उपाध्याय की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
प्रतिहिंसा से शांति!!

शीलन

47
साध्वी शुभ्रयशा
विच्छिन्न परंपरा को पुनर्जीवन

50
साध्वी सुमतिप्रभा
अहिंसा को जानो तो

52
बालकथा
यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'
सही जीवन

55
जैन भारती पाठक पहेली

सदस्यता शुल्क
वार्षिक 125/- रुपये
त्रैवार्षिक 350/- रुपये
दसवर्षीय 1000/- रुपये

प्रधान कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कोलकाता 700001

प्रकाशकीय कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

'किंतु मैं एक बार फिर पवित्रता बोध की ओर लौटना चाहूंगा क्योंकि उसे समझे बिना हम उस विशिष्ट 'दृष्टि' का मूल्य नहीं समझ पाएंगे, जो धर्मबोध से उत्पन्न होती है। मनुष्य में पहली बार ईश्वर की अवधारणा उसके आत्म की विस्तृत चेतना के भीतर ही जागृत हुई थी—एक ऐसी अतिरिक्त शक्ति जो मनुष्य को मनुष्य से इतर सृष्टि से जोड़ती है। अब मनुष्य एक नामहीन, अनाथ और अकेला प्राणी नहीं रहता, समूची सृष्टि के कार्यकलाप का दर्शक मात्र नहीं, बल्कि उसमें सक्रिय रूप से हिस्सा बंटाता है, यह उसके जीवन-निर्वाह के लिए ही नहीं, जीवन अर्थ के लिए भी अनिवार्य है। पहले उसके कर्म का कोई साक्षी नहीं था, इसलिए उसे अपना समूचा अस्तित्व एक प्रयोजन-रिक्त कृति जान पड़ती थी, किंतु इस आंतरिक चेतना के भीतर (हम उसे ईश्वर कहें या कुछ और, इससे अंतर नहीं पड़ता), अब उसे न केवल जन्म से मृत्यु तक फैला अपना जीवन, बल्कि अपने चारों ओर फैली विराट प्रकृति और समूची सृष्टि अर्थों से भरे जान पड़ते हैं। मनुष्य और सृष्टि के बीच फैला अथाह मौन अचानक टूट जाता है और जहां शून्य था, वहीं अब समूचा परिदृश्य संकेतों, अर्थों, गोपनीय रहस्यों से भरा दिखाई देने लगता है। पहली बार सृष्टि एक 'कृति' में बदल पाती है—मनुष्य को वैसे ही अभिभूत, आलोड़ित और रोमांचित करती हुई—जैसे हम किसी विराट कलाकृति के समक्ष महसूस करते हैं। दुनिया अब एक खाली पन्ना नहीं, विचित्र संकेतों से लिखी एक पूरी किताब जान पड़ती है—एक खुली किताब—जिसका लेखक अदृश्य है, किंतु ज्यों-ज्यों हम इन संकेतों का अनुवाद करते जाते हैं, उतना ही उसका लेखक एक विशिष्ट किस्म की दृश्यता ग्रहण करने लगता है। हर धर्म इसी किताब की टीका है, अनुवाद है, व्याख्या है। अनुवाद की भाषा एक-दूसरी से कितनी ही भिन्न हो, किंतु पुस्तक आज भी वही है, जो हजारों वर्ष पहले थी।'

—निर्मल वर्मा

अहिंसा के क्षेत्र में सब जीव समान हैं। कठिनाई यह है कि किसको भगाया जाए और किसको बचाया जाए? भैंसे को हांका जाए तो उसे कष्ट होता है और न हांका जाए तो तलाई के जीव मरते हैं। ऐसे प्रसंगों में अहिंसक का धर्म यही है कि वह समभाव रखे। किसी के बीच में न पड़े। जीव-रक्षा को प्रधान मानने वाले इन कठिनाइयों का पार नहीं पा सकते, तब बड़ों के लिए छोटे और बहुतों के लिए थोड़े जीवों की हिंसा को निर्दोष मान लेते हैं। किंतु इस मान्यता से अहिंसा का सिद्धांत टूट जाता है।

अहिंसक सब जीवों के प्रति संयम करता है, इसलिए वह सब जीवों की रक्षा करता है। सामाजिक प्राणी समाज की उपयोगिता को ध्यान में रखकर चलते हैं। वे अपने उपयोगी जीवों को बचाते हैं और अनुपयोगी जीवों की उपेक्षा करते हैं। उपयोगिता और अहिंसा का सिद्धांत एक नहीं। अहिंसावादी और उपयोगितावादी अपने रास्ते पर कई बार मिलेंगे, किंतु अंत में ऐसा अवसर भी आएगा जब उन्हें अलग-अलग रास्ते पकड़ने होंगे और किसी-किसी दिशा में एक-दूसरे का विरोध भी मानना होगा।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

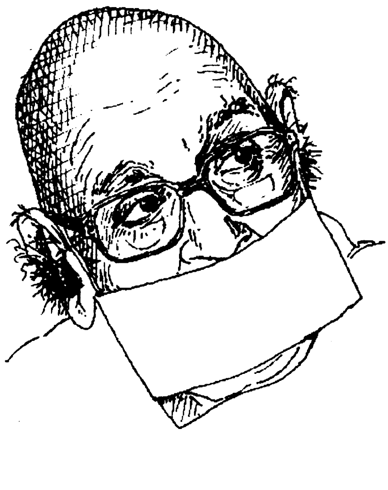

हिंसा भय लाती है और उसी भय के फलस्वरूप आपस में होड़-सी लगी हुई है। इस समय हम भारतवासियों को यह सोचना है कि मानवता को कैसे कायम रखा जा सकता है और उन भयभीत राष्ट्रों को कैसे रास्ता मिल सकता है?

आज लाखों आदमी धर्म के नाम पर धोखे में हैं, घपले में हैं। आज रुपयों के बिना गुरु नहीं मिलते। गुरु होना भी आवश्यक है, क्योंकि गुरु के बिना गति भी तो नहीं होती। पर कुगुरु की बनिस्पत बिना गुरु के रहना ही अच्छा है।

आज धार्मिकों की आपसी फूट नैतिकता के प्रसार में बहुत बड़ी बाधा है। उन्होंने धर्म को केवल मंदिरों, मस्जिदों और गिरजाघरों तक ही सीमित रखा—बाजार में नहीं आने दिया। यही कारण है कि जो बाजार निर्भयता का स्थान होना चाहिए था, वह भय का अड्डा बना हुआ है। चारों ओर अनैतिकता तथा बेईमानी छाई हुई है।

अगर इस समय धार्मिक नेता आपसी समन्वय कर नैतिकता के प्रसार में योग दें, तो मैं समझता हूं वे बहुत कुछ कर सकेंगे।

—आचार्यश्री तुलसी

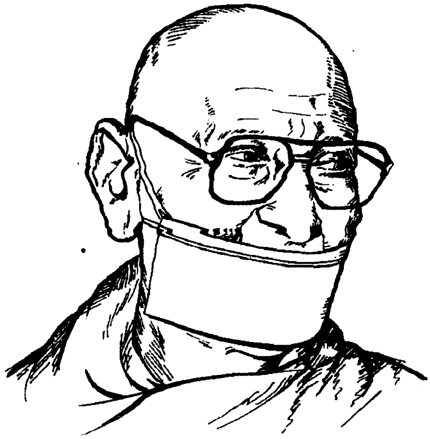

शस्त्र और हिंसा को पयार्यवाची माना जा सकता है। जहां-जहां शस्त्र है, वहां-वहां हिंसा है। जहां-जहां अशस्त्र है वहां-वहां अहिंसा है। जब प्रस्तरयुग था तब पाषाण के अस्त्र बने, पत्थर के शस्त्र बने। कभी मिट्टी का ढेला फेंका गया, वह भी एक शस्त्र था। लोह का युग आया, लोहे के शस्त्र बने, तलवारें बनीं। बारूद का युग आया, बंदूकें बनीं, गोलियां बनीं, तोपें बनीं। क्रमशः शस्त्र का विकास होता चला गया। विकास होते-होते अणुबम और हाइड्रोजन बम का युग आया—अणु शस्त्र बने, बनते चले जा रहे हैं।

इन शस्त्रों का विकास क्रमशः हुआ है। पर एक शस्त्र स्थाई है, जो पहले भी था, आज भी है और भविष्य में भी रहेगा। वही शस्त्र इन सब शस्त्रों का निर्माण कर रहा है। वह कभी बदलता नहीं है—स्थाई है और वह है असंयम। महावीर की भाषा में वह भाव-शस्त्र है। आचारांग सूत्र में षड्जीवनिकाय के लिए नाना प्रकार के शस्त्रों का निरूपण किया गया है। आज एक सामान्य आदमी शस्त्र शब्द कहते ही तलवार, बंदूक या लाठी पर गौर करेगा, किंतु पानी एक शस्त्र है, यह कल्पना वह नहीं कर सकता। महावीर ने कहा—पानी मिट्टी का शस्त्र है। वायु अग्नि का शस्त्र है। महावीर ने बहुत गहरे में जाकर शस्त्रों का सूक्ष्मता से प्रतिपादन किया। उनकी भाषा में जो शस्त्र है, उसकी सूक्ष्मता की कल्पना तक पहुंचने में दार्शनिकों को भी बहुत समय लगा है। हो सकता है, वैज्ञानिकों को उस गहराई तक पहुंचने में कई शताब्दियां और लग जाएं।

सब शस्त्रों के मूल में जो शस्त्र है, वह है भाव-शस्त्र। मिट्टी-मिट्टी का शस्त्र है, इसे ब्रह्म-शस्त्र माना गया है। यह वास्तविक शस्त्र नहीं है। वास्तविक शस्त्र है भाव-शस्त्र और वह है असंयम। प्राणी के अंतःकरण में जो असंयम है, वही वास्तविक शस्त्र है और वही इन सारे शस्त्रों का निर्माण कर रहा है। अगर असंयम न हो तो कोई शस्त्र बनता ही नहीं।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

प्रतिहिंसा से शांति!!

यह मुमकिन नहीं। असंभव ही है कि प्रतिहिंसा से शांति या अमन स्थापित हो सके। सभ्यताएं नष्ट भले हो जाएं—हिंसा-प्रतिहिंसा से, पर निर्माण नहीं हो सकता इनसे। कहने की जरूरत नहीं—कौन नहीं जानता कि हिंसा और हिंसा के बाद प्रतिहिंसा—एक अंतहीन सिलसिला ही होता है। दुर्भाग्य से आज दुनिया उसी ओर बढ़ रही है। इसके लिए उसे गोलबंद किया जा रहा है। हम जितने सभ्य हुए जा रहे हैं, क्या उतने ही हिंसक भी नहीं हो रहे?

भारत के लिए यह खास चिंता की बात होनी चाहिए। क्योंकि अहिंसा के अग्रदूत भगवान महावीर की यह पुण्य भूमि है। अहिंसा के पुजारी महात्मा गांधी की यह प्रयोग भूमि है। अणुव्रत का निनाद इस धरती से अभी कोई 50-52 साल ही तो हुए—जब उठा था। भगवान बुद्ध ने यहीं तो करूणा, शांति और प्रेम का पाठ सीखा-पढ़ाया था। आज भी यदि विकल्प को लेकर कहीं चर्चा-परिचर्चा हो रही है, अहिंसा-प्रशिक्षण की बात कहीं की जा रही है—तो वह इसी धरती पर हो रही है। इसलिए भारत के लिए यह अधिक विचारणीय सवाल है।

निंदा-स्तुति, पक्ष-प्रतिपक्ष, उचित-अनुचित का सवाल विचारणीय है भी, पर उनके लिए अधिक जो तात्कालिक प्रतिक्रिया की विवशता से मजबूर हैं—यानी शासन में बैठे लोग। चुनौती है बुनियादी और सैद्धांतिक स्तरों को तलाशने वालों के सामने। उनके लिए चुनौती है जो अहिंसा में अदम्य साहस और नैतिक बल मानते हैं, जो मानते हैं कि अहिंसा बुजदिलों के लिए नहीं है। जो यह मानते हैं कि निहत्थों पर हमला करना कायरता है, शस्त्रबल से घृणा का विस्तार तो हो सकता है, प्रेम और शांति का संसार नहीं रचा जा सकता—चुनौती उनके लिए है।

ग्यारह सितंबर को जो कुछ अमेरिका में घटित हुआ उससे क्या सिद्ध होता है? शस्त्रबल, संसाधनों और सुविधाओं के विकास से यदि प्रेम और शांति का

संसार बन सका होता तो आतंकवाद का अजगर इस तरह न पसरता, जितना संसार में आज वह पसरा हुआ नजर आ रहा है। क्या शस्त्र-सभ्यता ने ही आतंकवाद को पैदा नहीं किया है? कुटिल राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता, अमानवीय और अवैध तरीकों से क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति, आर्थिक-सामाजिक विषमता ही क्या उग्र कट्टरवाद के लिए दायी नहीं हैं? उत्तर एक ही होगा कि आतंकवाद, उग्रवाद के मूल में ये ही कारण होते हैं। इनको दबाने की जब-जब नौबत आती है तो कहीं धार्मिक कट्टरता के रूप में और कहीं उग्र राजनीतिक विचारधारा के रूप में—यह सामने आता है।

आतंकवाद और उग्रवाद वास्तविक अर्थों वाले विकास और समृद्धि के कभी पक्षधर नहीं होते। जहां वास्तविक समृद्धि और विकास होगा, वहीं पर शांति और प्रेम का सहवास हो सकेगा। दुनिया में व्याप्त विषमता वर्तमान की तथाकथित समृद्धि और विकास का प्रतिफलन है, यह न विकास है—न समृद्धि। तभी तो असंतोष का लावा जहां-तहां उबल पड़ता है। उग्रवाद और आतंकवाद के बीज इसी में से फूटते हैं। सच्ची शांति, वास्तविक समृद्धि और विकास दरअसल आतंकवाद और उग्रवाद के दुश्मन हैं। विकास और समृद्धि की ऐसी बुनावट को—जिसमें से विषमता पनपती है, उसे तोड़ना ही उग्रवाद और आतंकवाद के बीज वपन की संभावना को समाप्त करना होगा। यह पहल कौन करे? कौन दे दिशा?

भारत विश्व का अध्यात्म-गुरु कहा जाता रहा है। अतः यह चुनौती उसी के सामने है। एक किस्सा—सुल्तान से पूछा गया कि आपके पास न सेना है, न धन-संसाधन, फिर भी आप बादशाह कैसे हो गए? बादशाह का उत्तर था—सबके प्रति मेरा सच्चा प्रेम, सद्भाव और शत्रु के प्रति भी उदारता—क्या इतना पर्याप्त नहीं बादशाह या सुल्तान होने के लिए? भारत को यह पाठ विश्व को बताना होगा। शक्तिसंपन्न अमेरिका को भी। यही अवसर है। लोहा गर्म है, तवा पूरी तरह तपा है। महावीर की यह वाणी—'मित्ती मे सव्वभूएसु, वेर मज्झ न केणई' और 'समो य सव्वभूएसु, समो निंदापसंसासु, पुढवि समे मुणी हवेज्जा'—प्राणीमात्र के प्रति समभाव, निंदा-प्रशंसा में समता और विपरीत स्थिति में भी पृथ्वी के समान धैर्य धारण करना—शस्त्रबल के सामने यह ताबीज भारत को रखना होगा।

सही है कि ग्यारह सितंबर के रोज अमेरिका पर जो घाव पड़ चुका उसका असर गहरा है। पर तबाही से कभी तबाही रुकी नहीं, घृणा से घृणा का ही विस्तार होता है। अमेरिका के लिए ये घड़ियां ऐसा ही सबक सीखने की हैं। उसे सोचना है कि शस्त्रों का जंगी जखीरा जमा करके क्या स्वयं उसने भी दुनिया में आतंकवाद ही खड़ा नहीं किया? इसके बरक्स शांति, करूणा, प्रेम, सहिष्णुता, समता-समरसता के लिए कुछ किया होता तो दुनिया की शक्ल कुछ और न होती? ये क्षण अमेरिका के लिए, 'ग्रेट सेवन' या सबके लिए ही विचारणीय हैं। विकास और समृद्धि, प्रौद्योगिकी और विज्ञान की उन्नति की अब तक की जो भी अवधारणा रही है, उस पर पुनर्विचार की जरूरत अब महसूस होनी चाहिए। दुनिया में व्याप्त भुखमरी, कुपोषण, प्रकृति और पर्यावरण का असंतुलन, अशिक्षा और विषमता का उन्मूलन अब नियंताओं की प्राथमिकता होनी चाहिए।

अमेरिका को स्मरण करना चाहिए उन अकल्पनीय संहारों को—जिनके नतीजे आज भी विश्व भोग रहा है। हिरोशिमा-नागासाकी में उसने जो कुछ किया, उसे क्या मिला? खुद अफगानिस्तान में जो कुछ हुआ, होता रहा—उसे क्या मिला? दुनिया भर के लिए जैसी भूमिका अब तक अमेरिका की रही—उसे क्या मिला? लाखों निरपराधों की आहें-कराहें भले ठंडी पड़ चुकी हों—अमेरिका को अहसास होना चाहिए कि उसकी सामर्थ्य, क्षमता और शक्ति ने दुनिया को क्या दिया है? कुछ करने से पहले—अपना विगत उसे टटोलकर देखना चाहिए। उसके प्रतिफलों को अब उसे समझना चाहिए। आक्रोश और आवेश से संस्कृति और सभ्यताओं का विकास नहीं होता और न ऐसा नेतृत्व चिरंजीवी होता है। अमेरिका के सम्मुख चुनौती यदि है तो ओसामा बिन लादेन नहीं, चुनौती यह है कि वह समझे कि आखिर वे कौन-से हालात हैं जिनमें ओसामा बिन लादेन जन्मता है? आतंकवाद और उग्रवाद की जड़ें उसे तलाश करनी चाहिए, अन्यथा जिंदा या मुर्दा लादेन उसे मिल गया तो भी वे जड़ें बची रहेंगी जो जब-तब सिर उठाएंगी।

इसलिए हिंसा और प्रतिहिंसा नहीं—शांति के लिए अहिंसा और शत्रु के लिए उदारता की जरूरत है। बेशक यह जटिल और कठिन कार्य है, पर सच्ची सामर्थ्य और अपरिमित क्षमता इसी में निहित है।

— शुभू पटवा

विमर्श

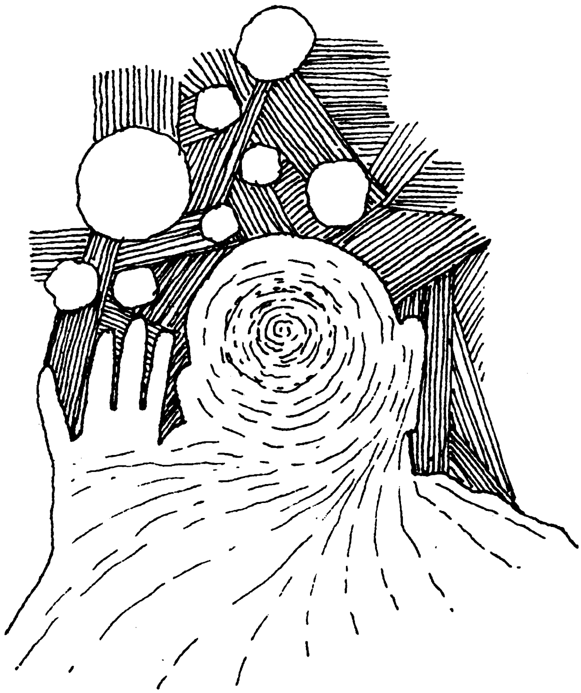

'संस्कृति की वस्तु-वैज्ञानिक व्याख्या प्रकृति और संस्कृति में ठीक भेद नहीं कर पाती। प्रकृति तार्किक ज्ञान का रचित विषय है, संस्कृति निजानुभूति का प्रकार है। जिन मूल प्रत्ययों द्वारा दोनों विकल्पित होते हैं, वे भिन्न-भिन्न हैं। तत्त्वतः प्रकृति एक ऐसी वस्तु-व्यवस्था है जिसका ज्ञान इंद्रियगोचर प्रतिभासों के विश्लेषण-संश्लेषण से संपन्न होता है। इस ज्ञान के मूल प्रत्यय देश और काल, द्रव्य और कारणता आदि हैं। वस्तु मात्र इन प्रत्ययों द्वारा ही अवधारित होती है। दूसरी ओर, संस्कृति तत्त्वतः एक मूल्य-व्यवस्था है जिसका ज्ञान संकेतगोचर आत्मबोध के अथवा आदर्शबोध के विवेचन से होता है। एषणीयता और औचित्य, अनंतता और स्वतंत्रता आदि द्वंद्वात्मक प्रत्ययों से यह ज्ञान व्यवस्थापित है। हमारा प्रकृति का बोध एक अनात्म सत्ता के दबाव के अनुभव से प्रारंभ होता है जबकि संस्कृति-बोध का आरंभ, आत्मिक अथवा आदर्श सत्ता के संकेत अथवा प्रतिबिंब को पहचानने से होता है। प्रकृति का जगत प्रत्यक्ष से निर्धारित, अपरिवर्तनीय कार्यकारण भाव से परिगृहीत जड़ वस्तुओं का विश्व है। सांस्कृतिक जगत अर्थ-गवेषणा अथवा आत्मपर्येषणा के सनातन इतिहास की सांकेतिक अभिव्यक्तियों का विश्व है।'

—डॉ. गोविन्द चन्द्र पांडे

लगभग समस्त वैदिक भारतीय दर्शनों में आत्मतत्त्व के अस्तित्व को मान्यता प्राप्त है। अवैदिक दर्शनों में केवल जैन दर्शन में ही आत्मतत्त्व की सत्ता स्वीकार की जाती है। वहां इसे प्रमाणित करने के लिए कहा गया है—'नैतिक मूल्यांकन के लिए यह स्वीकार करना आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य इस संसार में अपने को बना व बिगाड़ सकता है और यह कि आत्मा का एक पृथक अस्तित्व है, जिसे वह अपने मोक्ष की अवस्था में भी अक्षुण्ण बनाए रखती है।

आत्मतत्त्व : एक समन्वयात्मक विमर्श

❑ सन्तोष आचार्य ❑

'हमें भौतिक ज्ञान के पीछे पड़कर पारभौतिक विषयों को नहीं भूल जाना चाहिए। चेतन जड़ का कोई गुण नहीं, परंतु उसमें समाई हुई अपने को प्रदर्शित करने वाली एक स्वतंत्र सत्ता है। प्राणीमात्र के अंतर्गत एक ऐसी वस्तु अवश्य है जिसका शरीर के नाश के साथ अंत नहीं हो जाता।' **—ओलिवर लॉज**

मानव के अस्तित्व संबंधी समस्त प्रश्नों का समाधान 'आत्मतत्त्व' की सत्ता स्वीकारने पर ही होता है। इस संदर्भ में सर ओलिवर लॉज के उपरोक्त शब्द सार्थक प्रतीत होते हैं जो कि नित्य आत्मा के अस्तित्व को निश्चित रूप से प्रमाणित सिद्ध करते हैं। आत्म-अस्तित्व को प्रमाणित करने हेतु वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है—'सृष्टि के आदि में केवल आत्मा की ही सत्ता थी। उस समय उसका स्वरूप 'पुरुष' था। उसने प्रथम अपने आपसे कहा कि 'मैं पुरुष हूं।' इसी कारण उसकी अहम् संज्ञा हुई। यही कारण है कि जब मनुष्य से यह पूछा जाता है कि वह कौन है तो पहले 'मैं' (अहम्) कहने के उपरांत ही अपना नाम बतलाता है।'[1]

आत्मा ही सृष्टि का आरंभिक प्रत्यय है। 'मैं' या आत्मा से ही अस्तित्व की प्राथमिक अनुभूति होती है। उसके उपरांत ही जगत व अन्य के अस्तित्व का भान होता है। अर्थात् आत्मतत्त्व ही मानव-अस्तित्व को देखने का झरोखा है। आत्मा संपूर्ण चिंतन की नींव है जिसके बिना सब शून्य है। इसीलिए भारतीय चिंतन परंपरा प्रारंभ से ही आत्म-रहस्य को सुलझाने में प्रयत्नशील रही है।

आत्मा शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम ऋग्वेद में 'आत्मा वे वातः' द्वारा वायु के लिए हुआ है।[2] इसी वायु को जीवन का आधार बताया गया है। उपनिषदों में ब्रह्म व आत्मा शब्दों का प्रयोग समानार्थक रूप में परम सत् के लिए हुआ है। उपनिषदों में इस परम सत् का समष्टि और व्यष्टि—इन दो दृष्टियों से विश्लेषण किया गया है। इसी दृष्टि से आत्मा के भी दो रूप हैं—एक परात्पर रूप जिसमें वह शरीर से परे अजन्मा, अविनाशी है। यही आत्मा ब्रह्म है अर्थात् तात्त्विक रूप से ब्रह्म व आत्मा समान हैं। आत्मा का दूसरा स्वरूप जीव-रूप है जिसमें वह देह के साथ संबद्ध है। दोनों रूपों में आत्मा का प्रथम परात्पर स्वरूप ही तात्त्विक स्वरूप है। यहां यह स्पष्ट करना प्रासंगिक होगा कि यही तात्त्विक 'आत्म-तत्त्व' शरीर में प्रवेश कर जीव-रूप धारण करता है।

इस संदर्भ में छांदोग्य उपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि उस प्रथम सत् ने, जिसने अग्नि, जल और पृथ्वी की क्रमशः रचना की, इनमें जीवात्मा के रूप में प्रवेश किया। इस प्रकार आत्मतत्त्व ही शरीर में जीव-रूप में प्रवेश करता है। ऐतरेय उपनिषद् में 'आत्मतत्त्व' के जीव की देह में अनुप्रवेश का वर्णन करते हुए कहा गया है—

'सृष्टि और देह की रचना करने के बाद रचयिता ने ईक्षण किया कि मेरे बिना पुरुष की यह देह कैसे रहेगी? अब वह सोचने लगा, मैं इस शरीर में किस मार्ग से प्रवेश करूं? उसने कहा—शरीर में वाणी बोलती मालूम देती है, प्राण चलता मालूम देता है, आंख देखती प्रतीत होती है, कान सुनता जान पड़ता है, त्वचा स्पर्श करती है और शिश्न स्वयं काम करते प्रतीत होता है, तो मैं कौन हूं? अर्थात् मेरे बिना समस्त इंद्रिय-व्यापार स्वतः हों तो मेरा प्रयोजन ही नहीं

रहेगा। यही सोचकर वह देह की सीमा, जहां देह समाप्त हो जाती है, उस कपाल को विदीर्ण कर इस देह में प्रविष्ट हो गया। इसी कारण इस स्थान को 'विदृति' कहते हैं।'[3]

यहां 'विदृति' का अर्थ फाड़ना है। सूत्र में इस स्थान को 'नांदन' या आनंदमय कहा है। शंकर के अनुसार 'यह मार्ग केवल परमेश्वर का ही है, अतः यह आनंदप्रद है। तात्पर्य यह है कि इस मार्ग से जाकर पुरुष परब्रह्म में आनंद प्राप्त करने लगेगा।'[4]

इस परम आत्मतत्त्व के देह में अनुप्रवेश कर जीवात्मा स्वरूप धारित करने के उपरांत यह शंका होती है कि धारित देह के कौन-से स्थान में उसका निवास होगा तथा उसकी आयतनिक प्रकृति क्या होगी? इस शंका के निवारण हेतु उपनिषदों में किया गया विचार-विमर्श महत्त्वपूर्ण है। कठोपनिषद् में 'आत्मा का निवास जीव के हृदय देश में मानते हुए उसी आधार पर उसका आकार अंगुष्ठमात्र स्वीकार किया गया है क्योंकि मनुष्य का हृदय अंगूठे के नाप का माना जाता है।' आत्मा की आयतनिक प्रकृति का एक अन्य रूप वृहदारण्यक उपनिषद् में मिलता है—'आत्मा इतना लघु है जितना कि एक चावल और जौ का दाना। फिर भी वह सर्वेश तथा सर्वाधिपति है और विश्व की अखिल सत्ता पर शासन करता है।'[5]

इस प्रकार आत्मतत्त्व के परिमाण को कहीं चावल के बराबर तो कहीं अंगुष्ठमात्र बताया गया है। वहीं कुछ उपनिषदों में आत्मा को नित्य, विभु स्वीकार किया है (मु. उप. 1।1।6)। कठ उपनिषद् में इसी संदर्भ में कहा गया है—'ज्ञानी पुरुष इस महान तथा विभु आत्मा को पहचान कर शोक करना छोड़ देते हैं।'[6]

यहां आत्मा के परिमाण को एक ओर चावल या जौ जितना लघु और दूसरी ओर विभु व व्यापक मानना विरोधाभास प्रतीत होता है, लेकिन विरोधों का समन्वय करते हुए कठोपनिषद में कहा गया है—'आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तथा महान से भी महान है।' इसी समन्वयवादी विचारधारा का समर्थन करते हुए छांदोग्य उपनिषद् में कहा गया है—

'मेरा हृदय में स्थित आत्मा चावल, जौ, सरसों अथवा राई के दानों से भी सूक्ष्म है, फिर भी मेरा आत्मा जो हृदय में सन्निहित है, पृथ्वी से भी बड़ा है तथा इन समस्त लोकों से भी बड़ा है।'[7]

उपनिषदों में परम सत् रूपी आत्मा की सर्वप्रथम उपस्थिति बताई गई है—'आत्मा वा इदमेव स्वाग्र आसीत्। नान्यत्किंचन मिषत्' अर्थात् पहले एकमात्र आत्मा ही था, उसके सिवा और कोई सक्रिय वस्तु नहीं थी (ऐतरेय उपनिषद् 1।1।1 वृ. उप. 1।4।1)। इस सनातन आत्मतत्त्व के ईक्षण द्वारा ही अर्थात् उसी की इच्छाशक्ति से अन्य सभी की उत्पत्ति संभव हुई।[8]

यहां स्पष्ट रूप से समस्त सृष्टि को (मनुष्य, पशु, अचेतन जगत आदि) केवल उस आत्मा के ईक्षण का परिणाम बताया गया है। आत्मा ही समस्त का निर्माता है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए वृहदारण्यकोपनिषद् में बतलाया गया है कि सर्वप्रथम केवल यह आत्मा अकेला था, इस एकाकीपन के निवारण हेतु उसने किसी दूसरी सत्ता की इच्छा की और स्वयं को ही दो भागों में विभक्त करके पति और पत्नी के स्वरूप में परिणत हो गया। फिर पत्नी (स्त्री आत्मतत्त्व) ने सोचा कि अपने ही शरीर से उत्पन्न कर यह पुरुष आत्मतत्त्व मेरे साथ संयोग करना चाहता है, इसलिए अपने को छिपाने के लिए वह गाय बन गई, पुरुष आत्मतत्त्व (पति) वृषभ बन गया। दोनों ने संयोग किया जिससे गौ प्रजाति का निर्माण हुआ। अब पत्नी आत्मतत्त्व क्रमशः अश्विनी, गर्दभी, बकरी, भेड़ आदि बनती गई और पुरुष आत्मतत्त्व (पति) इसके विपरीत लिंग धारण करता रहा और क्रमशः संयोग करता रहा। इस प्रकार चिंटी पर्यंत जितने भी विश्व में जोड़े हैं, उन्हें पुरुष आत्मतत्त्व तथा स्त्री आत्मतत्त्व या पति और पत्नी ने ही उत्पन्न किया है। इसलिए पति-पत्नी के संबंध को लौकिक भाषा में आत्मिक संबंध कहा जाता है (वृहदारण्यक उप. 1।4।1,2,3)।

आत्मा से सृष्टि का विकास और उसकी आयतनिक प्रकृति बतलाने के उपरांत उसके मूल स्वरूप का स्पष्टीकरण अनिवार्य है। इस संदर्भ में कठोपनिषद् में यमाचार्य कहते हैं—'यह चेतन जीवात्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है, न यह किसी कारण से उत्पन्न हुआ है, न पहले कभी हुआ था। यह अजन्मा है, निरंतर है, पुरातन है—शरीर के मरने पर भी यह नहीं मरता है।'[9]

अतः कठ उपनिषद् में आत्मा के मौलिक स्वरूप को जन्म-मरणरूपी सांसारिक आवागमन के चक्र से परे नित्य-मुक्त बताया है। इस प्रकार वास्तव में आत्मा शाश्वत है, शरीर-संबद्ध का कारण उसका अज्ञान है।

आत्मा के अजर-अमर स्वरूप को प्रमाणित करते हुए कठ उपनिषद् में फिर कहा गया है—

'हन्ता चेन्यमन्यते हन्तु हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।'

(कठ. उप. 1।2।19)

अर्थात् 'मारने वाला आत्मा को मारने का विचार करता है और मारा जाने वाला उसे मारा हुआ समझता है तो वे दोनों ही उसे नहीं जानते, यह न तो मारता है और न मारा जाता है। कठ उपनिषद् के इस सूत्र में शरीर को ही आत्मा मानकर यह सोचने वाले मनुष्यों—कि 'मैं इसे मारूंगा' या 'मैं मारा गया हूं'—को अज्ञानी बताया गया है।'[10]

श्रीमद्भगवद्गीता में इन्हीं विचारों का अनुकरण करते हुए कहा गया है—

'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।'
(2।23)

अर्थात् इस आत्मा को न शस्त्र काट सकते हैं और न ही इसे आग जला सकती है, इसे न जल गला सकता है और न वायु ही सुखा सकती है।

उपनिषदों में आत्मा के जिस अजर-अमर-अविनाशी स्वरूप की व्याख्या की गई है, वह केवल उसके स्वरूप ब्रह्म के संदर्भ में ही सत्य है, जीव-रूप में तो यह विनाशी व अनित्य है क्योंकि अपने अविवेक के कारण वह संसार-चक्र में आवागमन करता है। वास्तव में तो केवल ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है और जीव व ब्रह्म एक ही हैं, इसलिए शंकर ने कहा है—

'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मैनापर।'

स्पष्ट है कि आत्मा व ब्रह्म में अभेदसिद्ध संबंध ज्ञान ही विवेक ज्ञान है और मूल रूप में आत्मा ब्रह्मस्वरूप व अमूर्त है। आत्मा के इसी अमूर्त स्वरूप का विवेचन छांदोग्योपनिषद् में प्रजापति तथा इंद्र-विरोचन संवाद के अंतर्गत किया गया है। डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार, 'इस संवाद में हमें आत्मा की परिभाषा के विषय में एक प्रगतिशील विकास मिलता है जिसे चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है—

1. शारीरिक आत्मा 2. आनुभविक आत्मा 3. सर्वातिशायी प्रच्छन्न आत्मा और 4. परम आत्मा।'[11] डॉ. सी. डी. शर्मा के अनुसार 'इसमें आत्म चैतन्य के उत्तरोत्तर उत्कृष्ट चार स्तर निर्दिष्ट हैं—जागृत चैतन्य, स्वप्न चैतन्य, सुषुप्त चैतन्य और तुरीय चैतन्य।'[12]

इंद्र और विरोचन आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए क्रमशः देवताओं और राक्षसों के प्रतिनिधि बनकर प्रजापति के पास आए। प्रजापति उनकी बुद्धि की परीक्षा लेने के लिए मूल आत्मा का ज्ञान प्रदान करने के बजाय आत्मा की भौतिक अवस्थाओं को बताते हुए कहते हैं—जो नेत्र, जल या दर्पण में प्रतिबिंबित होता है, वही आत्मा है। (मूल 8।8 2)

अब विरोचन तो इसी प्रतिबिंबरूपी शरीर को आत्मा मानकर असुरों को 'देह की आत्मा' का उपदेश देते हैं जिससे 'देहात्मवाद सिद्धांत' का विकास हुआ है। लेकिन इंद्र असंतुष्ट होते हैं, तब प्रजापति क्रमशः स्वप्न और सुषुप्त अवस्था में जो विचरण करते हैं, उन्हें आत्मा मानने का उपदेश देते हैं, लेकिन इंद्र इसमें भी शंका लेकर पुनः प्रजापति के पास उपस्थित हो जाते हैं, तब प्रजापति इंद्र को यथार्थ आत्मा का ज्ञान देते हुए कहते हैं कि जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में अभिव्यक्त चैतन्य शुद्ध आत्म चैतन्य नहीं है। आत्म चैतन्य तुरीय (चतुर्थ) अद्वैत, नित्य, शुद्ध, साक्षी, स्वप्रकाश और स्वतःसिद्ध है तथा उक्त तीनों अवस्थाओं का आधार है।

अब आत्म-प्रत्यय के एक महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर उपनिषदीय व्याख्या करना यहां प्रासंगिक होगा। जैसा कि उपनिषदों में मनुष्यों से चींटी-पर्यंत समस्त सांसारिक प्राणियों में आत्मा का निवास माना है, तब क्या आत्मा के विभिन्न वर्ग—पशु, पक्षी, स्त्री, पुरुष आदि होंगे? इसी प्रश्न के उत्तर के संदर्भ में श्वेताश्वतर उपनिषद् में आत्मा के लिंगभेद का निषेध करते हुए कहा गया है कि—

'नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यदच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्ययते।'
(श्वे. उप. 5।10)

अर्थात् 'यह आत्मा न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। यह जो-जो शरीर धारण करता है उस-उस में सुरक्षित रहता है।'[12] यहां आत्मा में समस्त रूप-गुण का निषेध किया गया है। यहां प्रश्न उठता है कि जब आत्मा में किसी प्रकार के रूप या गुण नहीं हैं तो फिर उसका वर्णन किस प्रकार संभव है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा है—'आत्मा का वर्णन 'नेति-नेति' में ही हो सकता है, यही कहा जा सकता है कि 'यह नहीं है—यह नहीं है।' यहां आत्मा का जो निषेधात्मक वर्णन किया गया है वह उसके अस्तित्व का निषेध न होकर उसके स्वरूप की अनिर्वचनीयता का वर्णन है।

यहां यह स्पष्ट करना अनिवार्य है कि लगभग समस्त वैदिक भारतीय दर्शनों में आत्मतत्त्व के अस्तित्व को मान्यता प्राप्त है। अवैदिक दर्शनों में केवल जैन दर्शन में ही आत्मतत्त्व की सत्ता स्वीकार की जाती है। वहां इसे प्रमाणित

करने के लिए कहा गया है—'नैतिक मूल्यांकन के लिए यह स्वीकार करना आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य इस संसार में अपने को बना व बिगाड़ सकता है और यह कि आत्मा का एक पृथक अस्तित्व है, जिसे वह अपने मोक्ष की अवस्था में भी अक्षुण्ण बनाए रखती है।'[13]

इस प्रकार जैन दर्शन में आत्मा का अस्तित्व स्वीकृत है। यहां आत्मा के लिए जीव शब्द का प्रयोग किया गया है। जैन चेतन द्रव्य को जीव कहते हैं। चेतन के अतिरिक्त अचेतन द्रव्य को अजीव कहा गया है। इस प्रकार द्रव्य के दो विभाग हुए—जीव तथा अजीव और इन दोनों के मध्य संयोजक कड़ी कर्म है। क्योंकि कर्म पुद्गलों (अजीव द्रव्य) के आत्मा में प्रवेश करने पर ही जीव सांसारिक बनता है, अन्यथा वह नित्यमुक्त है। अतः जीव का अजीव से पृथक होना ही मोक्ष है और यह कर्म को रोकने या कर्म-त्याग से ही संभव है। इस प्रकार कार्मिक प्रकृति के कारण ही आत्मा शरीर धारण कर सांसारिक गतिविधियों में भाग लेता है। मूल रूप में तो आत्मा सांसारिक बंधनों से परे सच्चिदानंद स्वरूप है। उपनिषदों के समान यहां भी जीव या आत्मा के दो रूप स्वीकार किए गए हैं—निरुपाधिक आत्मा और सोपाधिक आत्मा। निरुपाधिक जीवात्मा वह है जो पूर्ण पवित्र, असीम चैतन्ययुक्त तथा अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य तथा अनंत सुख का जीवन व्यतीत करता है। इस प्रकार निरुपाधिक जीव जन्म-मरण से परे असीम आनंदयुक्त होता है जिसके अंदर पुद्गल का लेशमात्र भी नहीं होता, जो इस विकारी जगत के परे असंसारी होते हैं। इसके कर्म पुद्गलों की उपस्थिति के कारण शरीरादि से सोपाधिक जीव संसारी होते हैं।

जैन दर्शन में जीव (सोपाधिक + निरुपाधिक) का साधारण लक्षण उपयोग माना है। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में कहा भी गया है 'उपयोगोलक्षणम् जीव'—2।8।[14] उपयोग का अर्थ है चैतन्य परिणति या जीव का साधारण गुण चैतन्य है। जैन दर्शन में जीव का स्वरूप उपयोगरूप, कर्ता, भोक्ता, अपूर्विक, संसारी-सिद्ध दोनों तथा स्वदेह परिमाण और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन या ऊपर की ओर जाने वाला माना गया है।

यहां जीव का स्वरूप निरूपण करते हुए जैनी उसके परिमाण को स्वदेह परिमाणी मानते हैं अर्थात् जिस-जिस देह में जीवात्मा प्रवेश करता है, उसी-उसी आकार वाला हो जाता है। कहा भी गया है—'हस्ति-पुद्गल प्राप्त हस्ति-पुद्गलो भवति, पिपीलिका-पुद्गल प्राप्य पिपीलिका भवति।' अर्थात् हाथी की आत्मा का आकार हाथी के बराबर है और चींटी की आत्मा का आकार चींटी के बराबर होता है। यहां स्पष्ट रूप से आत्मा को आयामी मानते हुए उसमें विस्तार व संकोच को सिद्ध किया गया है। जैन के इस सिद्धांत पर शंकर ने आक्षेप करते हुए कहा है—'आत्मा को शरीर के आकार के समान मानने पर शरीर के समान यह भी अनित्य होगा और यदि वो अनित्य है तो उसका अंत मोक्ष नहीं है। इसके अतिरिक्त आत्मा को इस जन्म में प्राप्त शरीर को छोड़ कर आगामी जन्म में वृहद् आकार के शरीर में प्रवेश करने में कठिनाई आएगी।'[15]

जैन दार्शनिक शंकर के आक्षेप का उत्तर इस दृष्टांत से देते हैं कि जिस प्रकार दीपक को छोटे से छोटे बरतन में रखा जाए चाहे बड़े कमरे में रखा जाए, वह सभी स्थानों को प्रकाशित करेगा—वैसे ही जीव भी भिन्न-भिन्न शरीरों के आकारों के अनुकूल रूप से सिकुड़ता और फैलता है। जीवात्मा को आयामी मानने के साथ ही वे यह स्वीकार करते हैं कि आत्मा शरीर के प्रत्येक हिस्से में व्याप्त है। इसे सिद्ध करने के लिए 'पञ्चास्तिकसमयसार' में कहा गया है—

'जिस प्रकार एक कमल, जो लालमणि के रंग का है, जब एक दूध के पात्र में रखा जाएगा तो अपनी वही रक्त वर्ण की आभा दूध को प्रदान करेगा, इसी प्रकार यह अपने निजी शरीर में स्थित होकर अपनी आभा अथवा अपने बुद्धि चैतन्य को समस्त देह को दे देता है।'[16]

जैन दर्शन में अहिंसा सिद्धांत को विशेष मान्यता प्राप्त है जिसका अर्थ है सभी प्रकार की हिंसा का परित्याग। इसी दृष्टिकोण को लेकर जैन-दर्शन में जीवों का ऐंद्रिक वर्ग-भेद किया गया है जिसमें सबसे उच्च पंचेंद्रिय और निम्नतम एकेंद्रिय को माना है। अब संन्यासी के लिए तो अहिंसा व्रत का पूर्णतया पालन करना आवश्यक है, लेकिन साधारण मनुष्यों के लिए जैनों ने दो इंद्रियों वाले जीवों तक की हत्या नहीं करने का उपदेश दिया है और एकेंद्रिय जीव हेतु अहिंसा व्रत का उल्लंघन क्षम्य मान लिया गया है। इस प्रकार यहां एकेंद्रिय से लेकर पंचेंद्रिय तक में आत्मा का आवास माना है। जैन दार्शनिक इसके आगे और कहते हैं कि केवल मनुष्य एवं जंतुओं में ही नहीं, सौरमंडल के पदार्थों से लेकर एक ओसकण तक में जीवात्मा है।

जैन दर्शन मानता है कि वनस्पति में भी एक इंद्रिय वाले जीवों का आवास है। इसे अन्य भारतीय दर्शन भी मानते हैं, लेकिन जैन इसे विशेष रूप से विकसित करते हैं। उनके अनुसार ऐसे पौधे जिनमें एक ही जीव है, वे ठोस और

दृश्य होते हैं, लेकिन ऐसे पौधे जिनमें अनेक वानस्पतिक जीवों का समूह होता है, वे सूक्ष्म तथा अदृश्य होते हैं एवं संसार के समस्त भूभागों में पाए जाते हैं। इन सूक्ष्म पौधों को 'निगोद' कहा गया है। असंख्य निगोदों से मिलकर एक गोलाकार वृत्त बनता है और यह संसार उनसे भरा हुआ है। इन निगोदों की मुख्य भूमिका यह है कि ये निर्वाण प्राप्त जीवों द्वारा छोड़े गए रिक्त स्थान, नई जीवात्माओं को प्रदान करते हैं। कहा जाता है कि—'एक अकेले निगोद के अत्यंत छोटे-से भाग ने भी अनादिकाल से आज तक उन जीवात्माओं के स्थान में, जो मोक्ष को प्राप्त हो गई, नई जीवात्माओं की पूर्ति की है। इसलिए यह कभी आशा नहीं कर सकते कि संसार किसी समय भी जीवित प्राणियों से रिक्त हो जाएगा।[17]

जैन दर्शन की भांति सांख्य दर्शन में भी आत्म-विचार सुस्पष्ट है। जहां जैनों ने आत्मा के लिए जीव शब्द का प्रयोग किया है वहीं सांख्य ने इसे पुरुष कहा है और इस पुरुषरूपी आत्मा की सत्ता सिद्ध करने के लिए ईश्वरकृष्ण ने निम्न कारिका प्रस्तुत की है—

'संघातपदार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोस्ति भोक्तृ भावत् कैवल्यार्थप्रवृतेश्च।।'[18]

अर्थात् जो समस्त संघात्मक, त्रिगुणात्मक प्रकृति से भिन्न, जड़ जगत का संचालन करने वाला, प्रकृति का भोक्ता और निर्वाण की इच्छा रखता है, वह तत्त्व पुरुष या आत्मा ही हो सकता है।

जैन की तरह सांख्य दर्शन ने आत्मा को मूलतः चैतन्य रूप माना है लेकिन न्याय-वैशेषिक में आत्मा को स्थाई किंतु चैतन्य को उसका स्वरूप-लक्षण न मानकर आगंतुक माना है और उसके विचार में मोक्षावस्था में आत्मा की चेतनता नष्ट हो जाती है। इसके विपरीत अद्वैत वेदांत में माना है कि मुक्त होने के बाद ही आत्मा पूर्णतः चैतन्य स्वरूप होता है या ब्रह्म में अवस्थित हो जाता है। यहां उपनिषदों के समान ब्रह्म व आत्मा में ऐक्य माना है (अद्वैत के आत्मिक विचार उपनिषदों के समान ही हैं, इसलिए यहां पुनरावृत्ति अनावश्यक है)।

अंततः यह स्पष्ट हो गया कि मूलतः भारतीय दर्शन आत्मवाद का प्रबल समर्थक है। लेकिन कुछ दर्शनों में अनात्मवाद का प्रतिपादन भी किया गया है, जैसे चार्वाक और बौद्ध, किंतु आत्म-मंथन इन दर्शनों में भी अछूता नहीं है। चार्वाक जड़वादी दर्शन है। वह जड़ तत्त्व से ही चेतन की उत्पत्ति मानता है। इसके लिए यह तर्क देते हैं कि जिस प्रकार पान, सुपारी, कत्था से लाल रंग की उत्पत्ति होती है वैसे ही अचेतन शरीर में चेतना की उत्पत्ति होती है और इसी चैतन्य विशिष्ट शरीर को आत्मा मान लिया जाता है। इस प्रकार किसी नित्य आत्मा की सत्ता का निषेध करके चार्वाक अनात्मवाद का प्रतिपादन करते हैं।

चार्वाक की तरह बौद्ध भी अपने को अनात्मवादी कहते हैं। वे आत्मा के अस्तित्व को वस्तु सत्य नहीं, काल्पनिक संज्ञा मानते हैं। यहां आत्मा केवल चेतना का प्रवाह है। इस सतत प्रवाह में ही एकता की भ्रांति होती है जैसे नदी के विभिन्न जल कण निरंतर प्रवाह में एक धारा का आभास देते हैं, वैसे ही हमारे व्यक्तित्व में अंतर्निहित भावनाओं, विचारों, संवेगों, प्रत्यक्षों और मानसिक प्रगतियों का एक समूह निरंतर स्थाई आत्मा का आभास देता है। बौद्ध व्यक्तित्व के इन अवयवों को मुख्यतः दो भागों में विभक्त करते हैं—नाम और रूप। उपनिषदों में आनुभविक आत्मा की रचना ऐसे ही प्रतिपादित की गई है।

इन दोनों भेदों में नाम मानसिक एवं रूप भौतिक घटकों का प्रतिनिधित्व करता है। अतः भौतिक (रूप) और मानसिक (नाम) क्रियाओं के संघात (स्कंध) को ही बौद्धों ने आत्मा माना है। इन नाम और रूप के आंतरिक प्रभेद निम्न पंचस्कंध हैं जिन्हें ही संयुक्त रूप से आत्मा कहा गया है—

1. रूपस्कंध—इसमें शरीर और इंद्रियां आते हैं।
2. वेदनास्कंध—इसमें संवेग और भावना आदि आते हैं।
3. संज्ञा प्रत्यक्षीकर।
4. संस्कार प्रत्यक्षीकर—इसमें स्मृति धारणा आदि आते हैं।
5. विज्ञान प्रत्यक्षीकर—चेतना।

प्रतिक्षण नष्ट होने वाले उपरोक्त पंचस्कंध ही संसार यात्रा के लिए पर्याप्त हैं। इनके परे कोई नित्य आत्मा नहीं है। नित्य आत्मा के बारे में प्रश्न करने पर बुद्ध शांत रहते हैं। अपने मौन का कारण बताते हुए बुद्ध ने कहा है—

'यदि मैं कहूं आत्मा है तो लोग शाश्वतवादी बन जाते हैं, यदि कहूं कि आत्मा नहीं है तो लोग उच्छेदवादी हो जाते हैं। इसलिए इन दोनों का निराकरण करने के लिए मैं मौन रहता हूं।[19] इस प्रकार आत्मा संबंधी प्रश्नों पर मौन रहने के कारण बौद्ध-दर्शन अनात्मवादी है। लेकिन अनात्मवादी होते हुए भी बौद्ध कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि को स्वीकारते हैं।

अब इस संदर्भ में यहां यह स्पष्ट करना प्रासंगिक होगा कि भारतीय दर्शन की तरह पाश्चात्य दर्शन में भी

आत्मतत्त्व का चिंतन हुआ है। वहां भी आत्मतत्त्व का स्वरूप अजर-अमर, नित्य, विकारी जगत से परे माना गया है। प्लेटो ने आत्मा की अमरता सिद्ध करने के लिए तर्क दिया है कि—'सभी वस्तुएं अपने विरोधी से उत्पन्न होती हैं। क्योंकि मृत्यु जीवन की विरोधी है, इसलिए जीवित आत्मा मृत आत्मा को जन्म देती है और मृत आत्मा जीवित आत्मा को उत्पन्न करती है। जीवन-मृत्यु का यह चक्र चलता रहता है। इससे आत्मा की अमरता सिद्ध होती है।' इसी प्रकार पाश्चात्य दर्शन में अनात्मवादी विचारों के खंडन और आत्मवादी विचारों के मंडन हेतु देकार्त की एक उक्ति प्रसिद्ध है—'मैं सोचता हूं' 'इसलिए मैं हूं', यह सुनिश्चित तथा सुस्पष्ट सत्य है। संदेहवादी भी इस सत्य को स्वीकार करेगा क्योंकि यदि संदेहकर्ता आत्मा पर भी संदेह किया जाता तो संदेह निराधार होगा। पाश्चात्य दार्शनिक कान्ट ने भी आत्मा के अस्तित्व को नैतिकता के लिए अनिवार्य मानते हुए इसे तर्क के परे आस्था का विषय माना है। वहां आत्मा की अमरता सिद्ध करने के लिए कहा गया है—'नैतिक जीवन के लिए शुभ संकल्प की आवश्यकता है परंतु पाशविक प्रवृत्तियां उसे प्रायः शुभ संकल्प से पृथक करती हैं। इन प्रवृत्तियों के दमन के लिए हमें अनेक जीवनों की तपस्या की आवश्यकता है। अतः शुभ संकल्पी होने के लिए हमें अनंत काल और जन्मों की आवश्यकता है।'[20] इससे आत्मा की अमरता सिद्ध होती है। इन सभी विचारों से एक तथ्य और सामने आता है कि इन दार्शनिकों ने आत्मा की अमरता के साथ पुनर्जन्म को भी आवश्यक रूप से संबद्ध माना है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि दार्शनिक चिंतन का केंद्रीय विषय आत्मा रहा है, क्योंकि आत्मा को जानकर ही अपने अस्तित्व को अनुभूत किया जा सकता है। पाश्चात्य दर्शन भी आत्मा के अस्तित्व को तो स्वीकार करता ही है साथ ही प्लेटो और कान्ट जैसे दार्शनिकों में आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म की संभावना की ओर भी संकेत मिलता है। ❖

संदर्भ

1. वृहदारण्यकोपनिषद् 1।4।1
2. ऋग्वेद 7।87।2
3. ऐतरेय उपनिषद् 1।3।11, 12
4. शांकरभाष्य—ऐतरेयोपनिषद्, पृ.सं. 652-53
5. वृहदारण्यकोपनिषद् 5।6।1
6. कठोपनिषद 1।2।22
7. छांदोग्योपनिषद् 3।14।3
8. 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति', - ऐतरेय उपनिषद् 1।1।1 छां. उप. 6।2।3
9. 'न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न वभूव कश्चित। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।' कठ उप. 1।2।8
10. सिद्धान्तालंकार सत्यव्रत—एकादशोपनिषद्, पृ.सं. 73
11. राधाकृष्णन् सर्वेपल्लि—उपनिषदों की भूमिका, पृ.सं. 138
12. शर्मा चन्द्रधर, भारतीय दर्शन, पृ.सं. 8
13 सूत्रकृतांग, पृ.सं. 1:3, 11
14. उमास्वाति—तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, 218
15. शांकरभाष्य, वेदांत सूत्रों पर, द्वितीय खंड : 2, 33-36
15. पञ्चास्तिकायसमयसार, पृ.सं. 33
17. लोकप्रकाश, पृ.सं. 6 : 32
18. ईश्वरकृष्णन-सांख्यकारिका, 17
19. अस्तीति शाश्वतग्राही, नास्तीत्युच्छेददर्शनम्। तस्मादस्तित्व-नास्तित्वे, नाश्रीयेत विचक्षणः।। नागार्जुन-माध्यमकारिका, 18।10
20. सिंह, बद्रीनाथ, पाश्चात्यदर्शन, पृ.सं. 382, 1992

❖❖

भूल सुधार

जैन भारती के सितंबर 2001 अंक में डॉ. विष्णुकांत शास्त्री का शिक्षक दिवस पर विशेष आलेख **शिक्षा : तेजस्विनावधीतमस्तु** प्रकाशित है। इस आलेख के प्रथम पैरा में ही अपरिहार्य स्थितियों में एक त्रुटि रह गई। आलेख की ग्यारहवीं पंक्ति '...1857 में अंग्रेजों ने लंदन...' पंक्ति कृपया इस प्रकार पढ़ें—

1857 में अंग्रेजों ने लंदन विश्वविद्यालय के अनुकरण पर कलकत्ता विश्वविद्यालय, मद्रास विश्वविद्यालय और बंबई विश्वविद्यालय की स्थापना की। उनकी स्थापना के पीछे....।

इस त्रुटि के लिए हम माननीय लेखक व सुधी पाठकवृंद से क्षमा प्रार्थी हैं। —सं.

> अहिंसा के प्रवर्तन को धर्म के और नैतिकता के क्षेत्र से आगे बढ़कर समाज और राज्य के क्षेत्र में आना होगा। अगर राज्य और समाज की भूमिका पर प्रबल का ही बोलबाला रहने वाला है, निर्बल समझे जाने वाले को भय में दब-सिकुड़कर ही रहना बदा है, तो यह हालत ज्यादा देर तक टिकने वाली नहीं है।

गांधी और जनतंत्र

❑ जैनेन्द्र कुमार ❑

जीवन की गति स्थूल से सूक्ष्म की ओर है। सामाजिक जीवन की भी सार्थकता इसमें है कि वह जिस शक्ति से चलता और नियंत्रित होता है वह स्थूल कम रहे और उत्तरोत्तर सूक्ष्मता का आकलन करता जाए। इसी को दूसरे शब्दों में यों कहें कि वह अहिंसा की ओर बढ़ती जाए।

विज्ञान का विकास यही है। वह नई-नई शक्तियों का आविष्कार करता जाता है। हर नई शक्ति पहले से सूक्ष्मतर होती है। इसीलिए उसमें अधिक वेग और प्रभाव होता है। पहले ठोस भारपन में शक्ति को कूता जाता था। अर्थात्, शक्ति का अनुमान परिमाण होता था। जिसका जितना वजन, उतना ही वह सशक्त। इसी को अंग्रेजी में 'मॉस' कहते थे। लेकिन यहां से आरंभ करके विज्ञान बढ़ता ही गया है। भाप की शक्ति का हमने आविष्कार किया और उससे एक नए युग का आविर्भाव हो गया। उसके बाद विद्युत्शक्ति का हमने पता लगा लिया। उस कारण जीवन एक साथ तीव्र और विस्तृत हो गया। अब विज्ञान उससे भी सूक्ष्मता में उतर रहा है। जान पड़ता है मनुष्य के हाथ में उस कारण अमित सत्ता और विभुता आ जाने वाली है। चंद्र-सूर्य और नक्षत्रमंडल से अब पृथ्वीवासी मानव का सजीव संबंध पैदा हो जाएगा। थोड़े दिन बाद लोग वहां आने-जाने लगेंगे और जो सीमा मनुष्य को अपने लिए अनिवार्य मालूम होती थी—वह मिट चुकी होगी। वह भूवासी से प्रवासी और आगे सौरमंडल-वासी बन जाएगा। सच ही जब तक मनुष्य असीम से अपने को अभिन्न नहीं पा लेगा, उसी प्रकार अनुभव और वर्तन नहीं करने लगेगा, तब तक वह चैन न लेगा और उन्नति करता ही जाएगा।

गांधी जयंती पर विशेष

धर्म और अध्यात्म की भाषा में हम जानते थे कि शरीर से मानव ससीम हो, अन्यथा वह असीम है। आत्मा की ओर से वह अनंत है, मुक्त है, निर्बंध है। चिंतन और मनन की भाषा में, काव्यादर्श के रूप में यह मानते हुए भी अनुभव हम अपनी सीमितता का और स्वल्पता का ही करते थे। विज्ञान को हाथ में लेकर आज जैसे पूरी यथार्थता और वास्तविकता के साथ मनुष्य कह सकता है कि वह ब्रह्ममय है, ब्रह्मांड उससे भिन्न नहीं है, बल्कि पूरी तरह तत्सम है। पुरुष और परमेश्वर के बीच की एकता, जो रहस्यवाद और इस तरह एक आदर्शवाद का विषय थी, अब विज्ञान की भूमिका पर आ उतरी है। मनुष्य प्रत्यक्ष देखता है कि अणु में वही सब है जो ब्रह्मांड में है। दूसरे शब्दों में अणु स्वयं में कुछ है ही नहीं, जो इस चराचर ब्रह्मांड में व्याप्त है वह उस मूल शक्ति का अंकरूप ही है।

विज्ञान की खोज जारी है कि वह मूल शक्ति है क्या? यह खोज निरंतर जारी ही रहेगी, कारण जानने वाला स्वयं भिन्न जो नहीं है। ज्ञेय के रूप में वह आदिशक्ति सदा अगम ही रहने वाली है। इसलिए उस अगम और अज्ञेय के प्रति ज्ञान की यात्रा अटूट चलती जाएगी और उसमें से मनुष्य अनेक विकास और विस्तार पाता जाएगा।

तो यही अवस्था हमारे सामाजिक जीवन की है। आदिकाल से चलते-चलते हमारा सामाजिक जीवन उस जगह तक आ गया है जहां यह पहचाने बिना हम रह नहीं सकते कि एक राष्ट्र के हृदय में कुशंका, भय या हिंसा हो, और यदि उसका स्फुल्लिंग फूटकर अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में आ पड़े तो विश्व में प्रलय ही आ जाएगी। राष्ट्ररूप में संगठित और एकत्र मानव समुदाय के भीतर सुलगती हुई हिंसा का कण कितना भयंकर है, इसका अनुभव प्रत्येक को आता जा

रहा है। अब तक हिंसक बल के आधार पर हम अपनी उलझनों को काटते आए हैं। जब राजनीति-कूटनीति उलझ गई और आपस में किसी फैसले पर आ नहीं सकी, तो हम झट से लड़ लेते रहे हैं कि अच्छा—हो जाए फैसला—या तुम (सही) या मैं। माना जाता रहा है कि जिसने दूसरे को हरा दिया, मार गिराया वह पक्ष सही था, दूसरा गलत था। इस निर्बल की हार या प्रबल की जीत को हम प्रकृति का नियम मानते रहे थे। प्रकृति से आगे हमने सभ्य जीवन का भी अंत में वही नियम स्वीकार किया था। आज तक वही नियम चलता आया है। उसी नियम के अधीन राष्ट्र-राज्यों में अब भी फौजें बन रही हैं और अस्त्र-शस्त्र तैयार किए जा रहे हैं। भारत कोई अलग देश नहीं है और वह भी उस सभ्यता के महारोग का अंग ही है।

गांधीजी की बात दूसरी थी। वह रोग के भाग नहीं अपने में 'औषध' रूप थे। इसी से उन्होंने अपने को राष्ट्र से अथवा राष्ट्र-राज्य से अभिन्न नहीं माना, भिन्न भी माना। उस जमाने में जबकि स्वराज्य की मांग बेहद तीव्र थी, गांधी ने कहने का साहस रखा कि हिंसा से मिलने वाला भारत का स्वराज्य मुझे नहीं चाहिए। आगे उन्होंने बताया कि जो स्वराज्य हिंसा के जोर से मिलने वाला होगा, जल्दी ही साबित हो जाएगा कि वह भीतर से स्वराज्य था ही नहीं। ऐसा स्वराज्य कम से कम भारतीय तो नहीं होगा। राजनीतिक स्वराज्य से किसी और का काम चल जाए तो भले चल जाए, भारत का काम उससे गहरा है, आंतरिक है। वह उसी स्वराज्य से सही तौर पर पूरा होगा जो अहिंसा के बल से प्राप्त होगा और आगे भी अपने संचालन के लिए बल के रूप में अहिंसा को ही स्वीकार करेगा।

यह श्रद्धा गांधी की थी, कांग्रेस की नहीं थी। कांग्रेस राजकाजी संस्था थी और उसका दायित्व था कि अंग्रेज जाए तो वह देश का राजकाज हाथ में ले। देश की भाषा से आगे जाना उसे उपलब्ध न था। इसलिए यद्यपि कांग्रेस को गांधी का आशीर्वाद था, तो भी यदि वह उस श्रद्धा पर न चल सके, या न चलना चाहे, तो उसे दोष नहीं दिया जा सकता।

लेकिन यह स्पष्ट है कि अहिंसा के प्रवर्तन को धर्म के और नैतिकता के क्षेत्र से आगे बढ़कर समाज और राज्य के क्षेत्र में आना होगा। अगर राज्य और समाज की भूमिका पर प्रबल का ही बोलबाला रहने वाला है, निर्बल समझे जानेवाले को भय में दब-सिकुड़कर ही रहना बदा है, तो यह हालत ज्यादा देर तक टिकने वाली नहीं है। विज्ञान ने, हमारे अपने मस्तिष्क और अनुभूति के विकास ने, हमको परस्पर इतना निकट ला दिया है कि शरीर, संख्या, सेना, शस्त्र के बल का आधार हमें ही झूठा मालूम होने लगा है। फिर उसका खतरा भी सामने आ गया है। उस आधार पर अब जीतने वाला कोई बचेगा ही नहीं, वह बल अंत में स्वयं जिताने वाले को हराएगा। वह बल आत्मघाती बल है। उसके सहारे जो उठेगा वह उसी के सहारे अंत में मरेगा भी। इस तरह हिम्मत बांधकर किसी समाज और राष्ट्र को उस बल के भरोसे के त्याग को संभव कर दिखलाना होगा। सामने वाला निःशस्त्र होना स्वीकार करे तो हम भी शस्त्र समाप्त करने को तैयार हैं—इस वृत्ति से तो हम चल ही रहे हैं। सब चाहते हैं कि हमें अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग न करना पड़े—सभी चाहते हैं कि ऐसी स्थिति बने कि अणुशक्ति से बम न बनाए जाएं बल्कि वह विधायक और रचनात्मक कामों में आ सके। पर इस चाह के बावजूद बमों के अतिरिक्त और किसी काम के लिए अणुशक्ति खाली नहीं है और उससे भीषण से भीषणतम अस्त्र-शस्त्र बनाने की होड़-सी लगी है। स्वयं इस होड़ से ही छोटे देशों को प्रकट हो जाना चाहिए कि सुरक्षा अब मामूली बारूद वाले हथियारों पर निर्भर नहीं है, न वह सैन्य-संस्था पर निर्भर है। वे देश आसानी से अपने सैनिकों में कमी कर रहे हैं जिनके पास आधुनिक शस्त्रास्त्र हैं। अमुक संख्या में 'मैन-पावर' (मनुष्य-शक्ति) मिलकर एक 'हार्सपावर' (अश्व-शक्ति) बनती है और एक मशीन में असंख्य हार्सपावर (अश्व-शक्ति) हो सकती है। इस तरह हजारों-लाखों आदमियों से एक मशीन बढ़ जाती है। जहां एक आदमी एक बंदूक संभाल सकता है वहां एक दूरमारक अस्त्र की तुलना में हजार-लाख आदमी नगण्य हो जाते हैं। इस होड़ में मनुष्य अंत में हारता है और पशु-पावर (अश्व-शक्ति) जीतती है। यानी मनुष्य को समाप्त करके पशु ही रह जाने को शेष रहता है।

समाज का जीवन जिस शक्ति से चलता हो, अंत में वही शक्ति कार्य संचालन और सुरक्षा के लिए राज्य के पास रह जाती है। यों अहिंसा राज्य की ओर से नहीं आ सकती। लेकिन यह भी सही है कि राज्य जितना हिंसा के बल पर आधार रखेगा, समाज में भी उस बल की उतनी ही प्रतिष्ठा होगी।

आज भ्रष्टाचार की बहुत शिकायत है। आदमी अनुभव करता है कि हाथ में हथकंडा हो, कुछ तिकड़म हो, पहुंच हो, तो समाज में नीचे से ऊंचे की ओर उठा जा सकता है। पास में अगर सिर्फ भलाई है, परिश्रम है, नेकनीयती है तो इन चीजों के भरोसे नीचे ही रहकर संतोष मानना होगा। यदि समाज की हालत यह है कि नेक और

परिश्रमी नीचे रह जाता और चतुर-चालाक ऊपर चढ़ जाता है तो यह अवस्था पुलिस और न्यायालय के जरिए संभल नहीं सकती। राज्य को पहचानना होगा कि यह संकट व्यवस्था का, तंत्र का नहीं है, मूल्य का ही संकट है। 'डिमाक्रेसी' या जनतंत्र जो मतसंख्या को प्राप्त कर निश्शंक हो जाती है, जनमत के दावे पर ही जनमत से मुक्त और स्वतंत्र हो जाती है, अंत में तानाशाही की आवश्यकता को प्रकट कर आती है। यही क्यों, स्वयं वह तानाशाही होती है। इसमें व्यक्ति और उसका चरित्र गौण हो जाता है—समूहता को प्रधानता मिल जाती है। गुट होना चाहिए, फिर उसका स्तर चाहे कुछ भी हो, बस आपका स्थान समाज और राज्य में बनता चला जाता है। यदि समाज-जीवन के चलन और नियमन का मूल्य यह दल एवं गुट-संगठन हो जाए तो कानून और उपदेश क्या मदद कर सकता है!

गांधीजी के काम का निशाना वही था। वह मूल्य-परिवर्तन चाहते थे। राज्य-परिवर्तन तो अपने-आप में कोई बड़ी चीज ही नहीं है। उसको क्रांति समझना धोखा खाना है। इतिहास में ऐसे धोखे लोगों को बहुत मिले हैं। राज्य क्रांतियां हुई हैं और तत्काल बाद उनसे निराशा हो चली है। गांधीजी ने इन कुशल राजनीतिक मानस रखकर चलने वालों को बताया कि वे धोखे में न रहें, न धोखा दें। राजनीतिक शब्दावली के हेरफेर से यथार्थता बदल नहीं जाती है। इससे उस शब्दजाल की माया में समय उतना न दें। कारण, वह समय छल में जाता, छल का वातावरण रचने में लगता है। हाथ के-से मंच का काम महत्त्व का बन जाता है। तब जीवन में विषमता न आए, मुसीबत न बढ़े, तो क्या हो? ऐसा होना तो स्वाभाविक ही हो जाता है। गांधीजी से इसलिए राजनीति में रचनात्मक पक्ष का उदय हुआ। मंच पर बोलने से ज्यादा हाथ की मेहनत को महत्त्व मिला। राजनीति में एक नए प्रकार के नेतृत्व का उदय हुआ। वह व्यक्ति सीधा-सादा था, उसकी अपनी जरूरतें कम थीं। उसके पास पैसा नहीं होता था। मामूली खर्च में उसका काम हो जाता था। नीचे आदमी के समकक्ष होकर चलने में वह गौरव मानता था। वह तीसरे दर्जे में चलता था। मामूली से मामूली घर में रहता था—नौकर रख नहीं सकता था। सब काम सफाई-धुलाई का अपने हाथ से करता था और वह आदमी समाज में आदर पाता था। उसके कारण सादगी, संयम, त्याग, अपरिग्रह का मूल्य समाज के शरीर में रचता जाता था। देखा जाता था कि सद्गुण ऊपर आ रहा है, दुर्गुण स्वयं दब रहा है। अपराध की संख्या उससे अनायास कम होती थी और उपद्रव-उत्पात उतने न होते थे। विद्यार्थी-समस्या, यूनियन-समस्या इतनी विकट न थी। न धनिक की ऐश्वर्य-समस्या उतनी दीखती थी। जीवन में उत्साह, उत्कर्ष काम करता था। स्पर्द्धा की काट की जगह सहयोग की मिठास थी। वह हालत आज नहीं है। तंत्र तो बहुत फैल गया है—सरकारी कर्मचारियों की संख्या कई-कई गुनी हो गई है। कानून भी सख्त बन रहे हैं। कोशिश भी भ्रष्टाचार को मिटाने की पहले से जोरशोर से की जा रही है। पर फल इष्ट नहीं हो रहा है तो इसीलिए कि रोग गहरा है—सामाजिक मूल्यों में विषमता आ गई है।

उन्नति में अनिवार्य गर्भित देखा जाएगा कि वह स्थूल से सूक्ष्म के महत्त्व की ओर जा रही है। मनुष्य की उन्नति की जांच आखिर क्या है? वह यही तो है कि उसके संबंध दूर-पास कितने विस्तृत और सामंजस्यपूर्ण हैं। धन की बहुतायत से तो सीधे मनुष्य की सफलता को नहीं नापा जा सकता। धन सफलता का लक्षण इसलिए है कि वह आदमी की सामाजिक साख का द्योतक है। यदि धन हो और साख न हो, तो वही धन काटने लग जाता है। मनुष्य के बारे में जो सच है वही देश के बारे में भी सच होना चाहिए। देश का बढ़ा-चढ़ा उत्पादन उसका बल है, अगर उसकी साख भी बढ़ी-चढ़ी हो। भारत देश को अवश्य गौरव प्राप्त है कि उससे आशाएं ऊंची हैं। इस संदर्भ में उसकी पंचवर्षीय योजना के अधीन उसकी व्यापार-नीति को सफल गिना जाएगा। लेकिन उसकी आंतरिक साख निरंतर कच्ची पड़ती जा रही है!

मैं यह मानने की अनुमति चाहता हूं कि भारत की अंतरराष्ट्रीय साख ऊंची इसलिए है कि वहां हमारी नीति भरसक न्याय और अहिंसा के प्रति तत्पर रही, आंतरिक साख यदि ऊंची उतनी नहीं कही जा सकती तो उसका कारण भी यही है कि वहां वह उतनी स्वच्छ नहीं रही। वैदेशिक संबंधों में हम गुटबंधी में नहीं आए हैं। आंतरिक संबंधों में हम गुटबंदी से बाहर और ऊपर नहीं जा रहे हैं।

सहयोग और स्नेह के संबंध किसको प्रिय और मान्य नहीं हैं, लेकिन देखते हैं कि संबंधों में स्नेह और सहयोग का माप रखना आसान नहीं हो पाता—अर्थात् यह केवल भावना का प्रश्न नहीं है। उसमें स्थिति और परिस्थिति का हाथ रहता है। इसीलिए गांधीजी नैतिक और आध्यात्मिक भूमिका पर कहीं ऊंचे नहीं बने रहे, बल्कि युद्धात्मक और राजनीतिक भूमि पर अधिक कर्मशील दिखाई दिए। इन गांधी को लोगों ने कर्मवीर कहने से आरंभ किया। लेकिन आगे जाकर दीखा कि वह महात्मा अधिक है—कर्म से अधिक उनकी महत्ता आत्मा में है। अर्थात् दूसरे संतों और महात्माओं से उनमें यह

अंतर था कि उन्होंने एकांत मन और भावना पर ही ध्यान को केंद्रित नहीं किया। बल्कि उनके अनुबंध और संदर्भ को, स्थिति और परिस्थिति को भी आध्यात्मिकता का संस्कार देते जाने की सावधानी रखी।

गांधीजी की आध्यात्मिकता का यह पक्ष अत्यंत वैज्ञानिक है। समाज-नेता और नेताओं के लिए वह बहुत ही विचारणीय और मननीय होना चाहिए। परिस्थिति में क्रांति लाने की बात नेताजन करते हैं और उसी प्रयत्न में लगे रहते हैं। वे कुछ कर जाते भी हैं। लेकिन फिर इतिहास द्वारा भुला दिए जाते हैं। कारण, मूल्यों में वे तनिक भी परिवर्तन नहीं कर पाते। दूसरे, वे लोग भी हैं जो सूक्ष्म में अर्थात् मूल्यों के क्षेत्र में काम करते हैं। ऐसे दार्शनिक, ऋषि-मनीषी पुरुषों को याद रखा जाता है, लेकिन पुस्तकों और शब्दों में अधिक। अपने समय के दीन-दुखी, त्रस्त जनों के प्रति वे कुछ नहीं कर जाते, वहां से असमर्थ और नगण्य ही बने रहते हैं। गांधी का ध्यान मूल्यों में रहा, साथ ही परिस्थितियों की नब्ज पर से उनका हाथ नहीं हट पाया। वहां से उन्होंने एक नई अर्थ-रचना और समाज-रचना का दर्शन दिया।

जब हम उस सहयोग, स्नेह और सत्याग्रह की शक्ति से ही समाज के काम चलाने का आग्रह रखेंगे तब देखेंगे कि एक नवीन प्रकार की राष्ट्र-नीति और राष्ट्रीय अर्थ-नीति हमको प्राप्त होती है। आज राष्ट्र आपस में एक कंटीली रेखा बीच में डाल कर अपनी सुरक्षा बांधते हैं। इस तरह पड़ोसी राष्ट्र के संबंध में स्पर्द्धा और शंका छूट नहीं पाती। सीमा-रेखा के दोनों ओर चौकी-पहरा रखना पड़ता है। व्यापार भी इसी नीति के अधीन चलाया जाता है। हर राष्ट्र आयात घटाने और निर्यात बढ़ाने की भाषा में सोचने को लाचार होता है। तब उसकी अर्थ-नीति विदेशी मुद्रा से इतनी जुड़ जाती है कि उत्पादन का उपभोग से संबंध टूट जाता है। यानी आवश्यकता के हिसाब से हम उत्पादन नहीं करते, बल्कि मुद्रार्जन के हिसाब से करते हैं। ऐसे चलकर सारे देश की अर्थ-नीति औंधी और उलटी तक बन जाती है। तब निपट गरीबी और घोर अमीरी दोनों साथ-साथ चलती देखी जाती हैं। उत्पादन अधीन आ जाता है—सुरक्षा की आवश्यकता के। तब जी-तोड़ मेहनत करने वाला किसान भूखा रह सकता है, बंदूक चलाने के सिवा कुछ न करने वाले सैनिक के लिए हर किस्म की सुख-सुविधा का सामान सजा रहता है!

जब तक हम अपनी रसोई का काम लकड़ी-कोयले से चलाएंगे—तब तक वहां धुआं भरे, तो हम किसी से शिकायत नहीं कर सकते। वह 'डिमाक्रेसी' या जनतंत्र, जो जन-मन से अलग सिर्फ़ गिनती के जनमत से अपना काम चलाता है, उसे बार-बार पुलिस और फ़ौज की जरूरत पड़े, तो इसमें कुछ अनहोनी बात नहीं है। सच्चे जनतंत्र की बुनियाद गहरी चाहिए। केवल संख्या-बल की नहीं, बल्कि नैतिक बल की। मत की नहीं, विश्वास की। गणना की नहीं, श्रद्धा की। ऐसे जनतंत्र में शासक उत्तरोत्तर सेवक होता जाएगा। शक्ति, जिससे काम होगा, स्पर्द्धा से दहकती और भभकती हुई नहीं होगी, बल्कि हार्दिकता से स्निग्ध और मधुर होगी। उसमें से धुआं नहीं निकलेगा। गुटबंदी कम होगी और आधार जीवन के असल मूल्यों का अर्थात् स्नेह और सेवा का होगा। तब संबंधों मे तनाव की जगह सद्भाव बढ़ेगा और वह केवल व्यक्तिगत क्षेत्र में नहीं बल्कि अंतर्देशीय क्षेत्र तक में। तब माना जाएगा कि गांधीजी को हमने शब्द से नहीं कर्म से भी मान दिया है। ❖

यदि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्तव्य का पालन करे तो सबको अपने-अपने अधिकार अनायास प्राप्त हो जाएं। जो कर्तव्य का पालन करना चाहता है उसके लिए कर्तव्य को पहचानना परमावश्यक है। कर्तव्य का क्षेत्र संकुचित नहीं है। समाज शब्द का संकीर्ण अर्थ भी लिया जा सकता है परंतु वस्तुतः वे सब प्राणी जिनके सहयोग से हमारी जीवनयात्रा हो रही है, हमारा अर्थ और काम सिद्ध हो रहा है, हमारे समाज के अंग हैं। उन सबका हमारे ऊपर उपकार है, उन सबके हमारे प्रति अधिकार हैं, उन सबके प्रति हमारे कर्तव्य हैं। जहां तक कि हम इन कर्तव्यों को पहचानने का यत्न नहीं करते वहां तक हमारी कृतघ्नता है और हम चोरी के अपराधी हैं। यदि एक बार यह भाव दृढ़ हो जाए तो बुद्धि में अधिकारों का, अपने अर्थ और काम का, स्थान गौण हो जाता है और कर्तव्यों का, पूर्णरूपेण सर्वतोमुख कर्तव्यपालन का, स्थान श्रेष्ठ हो जाता है।

—सम्पूर्णानन्द

अनुभूति

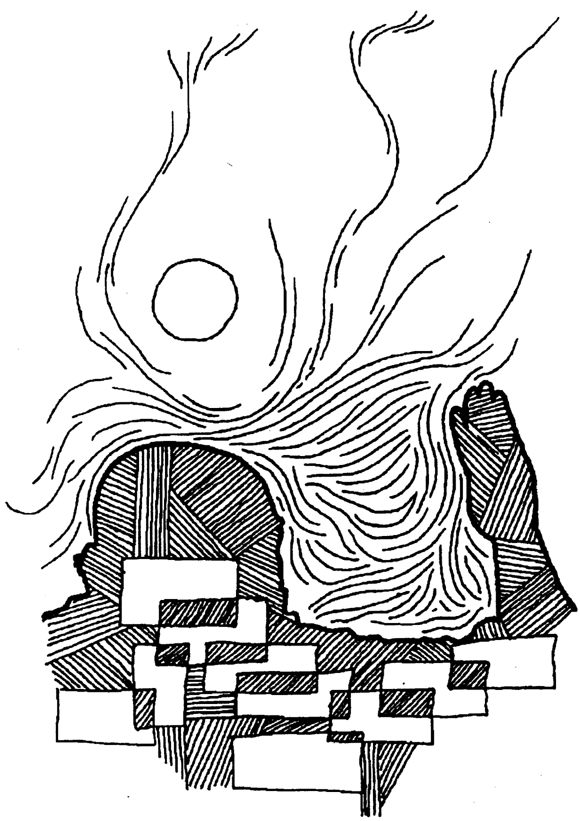

देश–निर्वासित–सा

अचरज मुझे बड़ा
कि ठगा जा कर यह हंस
घट में झट कैसे आ बंधा।
यह नहीं कि डरता हूं जिंदगी से
जिसकी नवाजिश करते लोग
दे कर उसे 'कलह' नाम।

भटकना हर एक मर्त्य को जन्म से मृत्यु तक
मैं खोजूं मृत्यु से जन्म का नवपंथ
भटकता रहा हूं, अभी भटकूंगा और
पृथ्वी पर, जैसे देश–निर्वासित हुआ स्वयं।

—उमाशंकर जोशी
(गुजराती कवि)

'...तो फिर क्या हम पराजय स्वीकार कर लें कि समाज के लिए अहिंसा का कोई शाश्वत मूल्य नहीं है और हम हिंसा का वरण इसलिए करें कि हिंसा का मूल्य समाज के लिए ज्यादा कारगर है?...'

अमेरिका में घटित ताजा घटना और दुनिया भर में व्याप्त आतंकवाद के भयानक घटाटोप में उपरोक्त सवाल हर किसी के मन में आज खड़ा हो रहा है। अहिंसा पर अटूट आस्था रखने वाले आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपने इस आलेख में जहां यह सवाल खड़ा किया है, वहीं इसका सहज समाधान भी प्रस्तुत किया है। 'अहिंसा ही एकमात्र समाधान है', यह दृढ़ आस्था रखने वालों के लिए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के ये विचार माननीय भी हैं और करणीय भी—

मनुष्य जाति एक है

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

मनुष्य जाति एक है—इस मूल्य की प्रतिष्ठा हमारी अनेक समस्याओं का एक समाधान है। कुछ लोगों ने इस दिशा में प्रयत्न किए। इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रयत्न है महात्मा गांधी का। उन्होंने सारे विद्वेषों को मिटाने के लिए अनेक प्रयत्न किए और अहिंसा के प्रति आस्था उत्पन्न करने का अथक प्रयास किया। किंतु इतिहास इस बात का साक्षी है, घटनाएं स्वयं प्रमाण हैं कि वह प्रयत्न एक सीमा तक सफल हुआ। व्यापक स्तर पर सफल नहीं हो सका। इसका कारण यही है कि जो प्रयत्न हुआ, वह बड़े लोगों में हुआ। अवस्था पक गई, विचार परिपक्व बन गए, धारणाएं पक गईं, उन लोगों में प्रयत्न हुआ। जब तक एक प्रभावशाली वातावरण रहा, परिस्थिति रही, तब तक लगा कि हिंदुस्तानी मानस अहिंसा के निकट जा रहा है, किंतु जैसे ही वह साया उठा, वह प्रभावी व्यक्तित्व सामने नहीं रहा और हिंसा देखते-देखते उग्र बनती गई। जैसे ही हिंदुस्तान और पाकिस्तान का विभाजन हुआ, हिंसा ने क्या रूप लिया? कितनी उग्रता सामने आई? इस घटना से एक निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हिंसा की शक्ति भी कमजोर नहीं है। अहिंसा को अगर हम शक्तिशाली मानें तो हिंसा की शक्ति भी कम नहीं है। घटनाओं के आधार पर, इतिहास के साक्ष्यों के आधार पर तो यह कहा जा सकता है कि समय-समय पर हिंसा ने अपना जितना रौद्र रूप दिखाया है, अहिंसा उतना सौम्य रूप नहीं दिखा पाई है।

तो फिर क्या हम पराजय स्वीकार कर लें कि समाज के लिए अहिंसा का कोई स्थाई या शाश्वत मूल्य नहीं है और हम हिंसा का वरण इसलिए करें कि हिंसा का मूल्य समाज के लिए ज्यादा कारगर है? किंतु यह भी स्वीकार नहीं किया जा रहा है। जहां-जहां हिंसा की समस्या उग्र बनती है, वहां तत्काल ध्यान अहिंसा की ओर ही जाता है। जहां विवाद उग्र होता है, वहां तत्काल ध्यान समझौते की

हिंसा का मूल है घृणा। जब तक घृणा पैदा नहीं होती, आदमी हिंसा नहीं कर सकता। लड़ना होता है, युद्ध करना होता है तो सामने वाले के प्रति घृणा की जाती है। यदि यहूदी जाति के प्रति घृणा पैदा नहीं की जाती तो लाखों यहूदियों को बिना मौत नहीं मारा जाता। पहले घृणा पैदा की जाती है, फिर हिंसा की जाती है। आज भी जितना आतंकवाद का प्रशिक्षण मिलता है, घृणा को उद्दीप्त करने वाला मिलता है। प्रशिक्षण में सामने वाली जाति के प्रति इतनी घृणा भर दी जाती है कि फिर उसे मारने में संकोच नहीं होता। घृणा हिंसा का बहुत बड़ा कारण है। उसे बदलना और उसके स्थान पर प्रेम उत्पन्न करना अत्यंत आवश्यक है। प्रेम उत्पन्न होने पर फिर कोई किसी को सता नहीं सकता।

ओर जाता है। सब कहते हैं कि हिंसा समाप्त होनी चाहिए, विवादों का अंत आना चाहिए।

पंजाब की समस्या उग्र बनी। पूरे राष्ट्र का ध्यान केंद्रित हो गया कि आतंकवाद समाप्त होना चाहिए, हिंसा की उग्रता अब नहीं चलनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि आदमी हिंसा चाहता नहीं, करता है। चाहता है अहिंसा एवं शांति, किंतु उन्माद आता है और उन्माद में वह हिंसा कर डालता है, शांति भंग हो जाती है।

दो स्थितियां हैं। एक है उन्माद की स्थिति और दूसरी है शांत स्थिति। शांत स्थिति में आदमी अहिंसक मूल्य को महत्त्व देता है, किंतु उन्माद जब आता है, उस स्थिति में वह हिंसा कर लेता है।

अहिंसा के संस्कार

हिंसा स्वाभाविक या नैसर्गिक नहीं है। वह एक अस्वाभाविक परिस्थिति है। हम कुछ कारणों से प्रभावित होकर उस दिशा में चले जाते हैं। यह बात समझ में आनी चाहिए कि समाज का मूल्य अहिंसा ही हो सकता है और इसी आधार पर समाज बना है।

आज आदमी इस बात को भूल-सा गया है। इस स्थिति में उपाय की बात सोचनी चाहिए कि किस उपाय से अहिंसा के मूल्य को पुनः प्रस्थापित करें? इस पर जब चिंतन करते हैं तो ऐसा लगता है कि एक और प्रयोग किया जाए। वह प्रयोग यह हो कि बचपन से ही अहिंसा की आस्था उत्पन्न की जाए। जब हिंसा की आस्था उत्पन्न हो जाती है, यह धारणा बन जाती है कि हिंसा के बिना काम नहीं चलता, फिर उसे बदलना बहुत जटिल हो जाता है। बचपन के संस्कार इतने प्रभावी होते हैं कि बाद में आने वाले संस्कार उनके सामने टिक नहीं पाते। एक प्रयोग करने की जरूरत है और वह प्रयोग होगा बचपन से अहिंसा की आस्था का निर्माण।

जीवन विज्ञान की प्रकल्पना इसी चिंतन का एक परिणाम है। जिन सामाजिक मूल्यों को हम समाज में देखना चाहते हैं, विकसित करना चाहते हैं, उन सामाजिक मूल्यों को बचपन से प्रतिफलित करना चाहिए, उनके प्रति आस्था पैदा करनी चाहिए।

अहिंसा की आस्था

आज सबसे बड़ा संकट है आस्था का। श्रद्धा इतनी विचलित है कि आदमी कहीं भी टिक नहीं पा रहा है। एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा और तीसरे के बाद चौथा कदम आगे बढ़ रहा है। कहीं पैर जमाकर खड़ा होकर आदमी कुछ करना नहीं चाहता। एक आदमी के मन में बचपन से ही साधना की बात आई और साधना करने लगा। किंतु चंचलता इतनी कि किसी भी बात पर जमा नहीं। आज एक पद्धति को अपनाया तो तीसरे दिन दूसरी पद्धति को और सातवें दिन तीसरी पद्धति को। बदलता गया, बदलता गया। आज यह स्थिति है कि वह जहां था, लगभग वहीं है, बहुत आगे सरक नहीं पाया। कहीं न कहीं आदमी को अपना पैर जमाकर खड़ा होना होता है और जब वह बिंदु प्राप्त नहीं होता है तो कहीं भी हम कुछ कर नहीं पाते। हमें आस्था को दृढ़ बनाना है और उसके लिए भावना का परिवर्तन आवश्यक है। शिक्षा के साथ इस संस्कार को पुष्ट किया जाए कि सब जीव समान हैं। सब जीव समान हैं—यह यह बात भी एक अमूर्त बन जाती है। मूर्त बात, सगुण भाषा ज्यादा प्रभावशाली बनती है। अमूर्त बात कभी-कभी कमजोर बन जाती है। इस आधार पर एक सिद्धांत विकसित किया गया कि सब जीवों की बात हम छोड़ दें पर कम से कम जो हमारे सामने हैं, हमारे जैसे हैं, उनके प्रति तो यह भाव विकसित करें कि मानव जाति एक है। दूसरा मनुष्य वैसा ही है, जैसा मैं हूं और जैसा मैं हूं, वैसा ही दूसरा मनुष्य है। इतनी आस्था उत्पन्न हो जाए तो मानवीय व्यवहार बदल जाए और यह बचपन में ज्यादा संभव है, क्योंकि इस अवस्था तक दूसरे संस्कार हावी नहीं होते, प्रभावी नहीं बनते।

घृणा और क्रूरता

अहिंसा का पहला सूत्र है धारणा या भावना का परिवर्तन। दूसरा सूत्र है प्रेम या मैत्री का विकास।

हिंसा का मूल है घृणा। जब तक घृणा पैदा नहीं होती, आदमी हिंसा कर नहीं सकता। लड़ना होता है, युद्ध करना होता है तो सामने वाले के प्रति घृणा पैदा की जाती है। यदि यहूदी जाति के प्रति घृणा पैदा नहीं की जाती तो लाखों यहूदियों को बिना मौत नहीं मारा जाता। पहले घृणा पैदा की जाती है, फिर हिंसा की जाती है। आज भी जितना आतंकवाद का प्रशिक्षण मिलता है, घृणा को उद्दीप्त करने वाला मिलता है। प्रशिक्षण में सामने वाली जाति के प्रति इतनी घृणा भर दी जाती है कि फिर उसे मारने में कोई संकोच नहीं होता। घृणा हिंसा का बहुत बड़ा कारण है। उसे बदलना और उसके स्थान पर प्रेम उत्पन्न करना अत्यंत आवश्यक है। प्रेम उत्पन्न होने पर फिर कोई किसी को सता नहीं सकता।

ढाई आखर प्रेम का

प्रेम उत्पन्न करना, प्रेम का विकास करना, मैत्री का विकास करना—यह अहिंसा का दूसरा तत्त्व है।

प्रेम की बहुत अधिक महिमा हमारे संतों ने गाई है। कबीर ने यहां तक लिखा—

पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय।।

आज समस्या यही है कि शिक्षा के साथ संवेदनशीलता, प्रेम, मैत्री या करुणा के विकास की बात बहुत जुड़ी हुई नहीं है। कहीं-कहीं होगी पर बहुत जुड़ी हुई नहीं है और केवल शिक्षा या पढ़ाई से ही यह बात आने वाली नहीं है। प्रेम के जो केंद्र हैं शरीर में, जब तक उनको नहीं छुआ जाता, करुणा के केंद्रों को नहीं छुआ जाता, तब तक वे विकसित नहीं होते। घृणा का केंद्र भी हमारे मस्तिष्क में है। दोनों विद्यमान हैं। जिसको बल मिलेगा, वह पुष्ट हो जाएगा। जिसको बल नहीं मिलेगा, वह कमजोर हो जाएगा।

प्रश्न है आवृत्ति का, प्रश्न है पल्लवन का और प्रश्न है उसे पोषण मिलने का। हम उन केंद्रों को यदि पल्लवित करते हैं, उनको छूते हैं तो अवश्य ही घृणा की भावना कम होती है और प्रेम का विकास होता है।

प्रेक्षाध्यान का एक प्रयोग है—ज्योति-केंद्र प्रेक्षा। यदि ज्योति-केंद्र पर हम ध्यान करेंगे, बार-बार उसका अनुभव करेंगे तो प्रेम, मैत्री और संवेदनशीलता की भावना बढ़ेगी। यदि हमारा ध्यान ज्यादा पेट की ओर जाएगा, नाभि के आस-पास परिक्रमा करेगा तो क्रूरता की भावना, उद्दंडता की भावना और घृणा की भावना को बल मिलता रहेगा। इसलिए हम किसको छुएं, किसको अनछुआ रखें, यह जानना बहुत आवश्यक है।

आस्था का निर्माण किया जाए

प्रश्न है—हमारा ध्यान आज कहां है? ध्यान प्रेम के पौधे पर है या घृणा के पौधे पर है? हम पानी कहां सींच रहे हैं? हमारे लिए यह बहुत ज्वलंत प्रश्न है। पानी तो सींच रहे हैं घृणा के पौधे पर और हम चाहते हैं कि अमन से रहें, शांति से रहें, कहीं आतंक न हो, कहीं हिंसा न हो, लूट-खसोट न हो, अपराध न हो। हमारी कल्पना तो चलती है रामराज्य की, और कार्य चलता है रावणराज्य का। संगति कैसे हो? इन विसंगतियों में जीते हुए हम मूल्यों का विकास नहीं कर सकते। यदि सचमुच हमारी आस्था मूल्यों का विकास करना है, सामाजिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करना है, तो हमें पानी वहीं सींचना होगा जिससे मूल्यों का विकास संभव बन सके।

अहिंसा की चर्चा हजारों वर्षों से हो रही है। उसे आज भी आवश्यक मानते हैं, पर उसका विकास नहीं हो पा रहा है। उसका मूल कारण है हमारी दुर्बलता। दुर्बलता यह है कि उसके प्रति सच्चे मन से प्रयत्न करना नहीं चाहते। आज हिंसा के पीछे जितनी मानवीय शक्ति खर्च हो रही है, उसका एक प्रतिशत भाग भी अहिंसा के पीछे खर्च नहीं हो रहा है। बड़े आश्चर्य की बात है। हमारी दुहाई है अहिंसा की और सारी शक्ति का नियोजन हो रहा है हिंसा के पीछे। क्या यह विरोधाभास नहीं है? हर आदमी शांति से रहना चाहता है और उसकी सारी प्रवृत्तियां अशांति को सिंचन दे रही हैं। क्या यह विरोधाभास नहीं है? यह सब क्यों हो रहा है? इसलिए कि बचपन से ही संस्कार दूसरे प्रकार के बने हुए हैं।

जब संस्कार रूढ़ हो जाते हैं, अर्जित आदतें रूढ़ बन जाती हैं, तब उन्हें तोड़ना हर किसी के बस की बात नहीं होती। कुछ व्यक्ति अपवाद हो सकते हैं कि जो बड़ी अवस्था में भी आमूलचूल बदल सकते हैं, अपनी आदतों को बदल देते हैं, अपने संस्कारों में भी परिवर्तन ला देते हैं। किंतु यह अपवादस्वरूप ही है। जबकि छोटी अवस्था में अभिलषित आदत का निर्माण किया जा सकता है, वह बहुत संभव है। इसलिए शिक्षा के साथ इसकी बहुत संगति बैठती है कि प्रारंभ काल से ही बच्चों में वैसी आस्थाओं का निर्माण किया जाए, जिनकी अपेक्षा समाज रखता है और जिन्हें हम सामाजिक मूल्य के रूप में विकसित करना चाहते हैं।

जीवन की दो पद्धतियां

जीवन की दो पद्धतियां हैं—वैयक्तिक जीवन पद्धति और सामाजिक जीवन पद्धति। दोनों साथ-साथ चलती हैं। कोई भी व्यक्ति सोलह आना सामाजिक नहीं होता और कोई भी व्यक्ति सोलह आना वैयक्तिक नहीं होता। दोनों परस्पर मिली हुई हैं। अधिकांश लोग सामाजिक जीवन जीते हैं। साधना की पद्धति भी सामाजिक बनी हुई है। कुछ लोग वैयक्तिक साधना करते हैं। कहीं दूर-दराज की गुफाओं में, कंदराओं में चले जाते हैं। वहां जो कुछ मिलता है, उससे जीवन चला लेते हैं और वहीं एकांत में रहते हैं। वैसे लोग बहुत कम होते हैं। सत्य की प्रबल जिज्ञासा सब लोगों में नहीं जागती। वैज्ञानिक लोग सत्य की खोज में लगे हुए हैं तो अध्यात्म के साधक भी सत्य की खोज में लगे हुए थे और हैं।

वैयक्तिक साधना के लोग संकरी पगडंडी पर चलते हैं, फिर वे चाहे वैज्ञानिक हों, चाहे अध्यात्म के साधक हों या ध्यान की आराधना करने वाले हों। ऐसा मार्ग कुछ लोग

चुनते हैं। उतनी तितिक्षा, उतनी तपस्या हर व्यक्ति में नहीं होती कि उस मार्ग को चुने। सामान्य आदमी सामाजिक जीवन ही जीएगा। जीवन में जो कुछ है, वह करेगा।

ध्यान साधना की एक पद्धति है वैयक्तिक और दूसरी है सामुदायिक। जीवन विज्ञान की पद्धति मुख्यतः सामाजिक पद्धति है, क्योंकि वह सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाली है।

आस्था बदले

जीवन विज्ञान का दृष्टिकोण है—सबसे पहले आस्था बदले। ध्यान न करने वाले और ध्यान करने वाले व्यक्ति की आस्था में बहुत बड़ा अंतर होता है। ध्यान सामुदायिक हो या वैयक्तिक, आखिर सत्य की खोज का मार्ग तो है ही। सत्य की खोज की जिज्ञासा न जागे तो ध्यान की रुचि ही पैदा नहीं होगी। जब अज्ञात को ज्ञात करने की भावना जागती है, अपने भीतर क्या है, यह जानने की भावना जागती है, अपने भाग्य को जानने और उसे बदलने की जिज्ञासा भी पैदा होती है, तब कहीं मनुष्य ध्यान के मार्ग में प्रवृत्त होता है।

ध्यान करने वाले लोगों के सामने एक प्रश्नचिह्न है। उस प्रश्नचिह्न पर उन्हें गंभीरता से ध्यान को केंद्रित करना है। यदि ध्यान के द्वारा कोई शक्ति नहीं जागी, जीवन की कोई रेखा नहीं बदली, पुरानी रेखा नहीं मिटी और नई रेखा नहीं खींची गई तो फिर लोग नहीं समझेंगे ध्यान का मूल्य। ध्यान करने वाला भी पूरा मूल्य नहीं समझ पाएगा। प्रत्येक प्रवृत्ति की कसौटी समाज में होती है, मूल्यांकन समाज में होता है। वैयक्तिक मूल्य नहीं होता, वैयक्तिक कसौटी नहीं होती। ध्यान के द्वारा कुछ बदलना चाहिए।

वैज्ञानिक पद्धति

जीवन विज्ञान की पद्धति इस अर्थ में वैज्ञानिक है कि पूरे विज्ञान के साथ यह चलती है। कारण और परिणाम—दोनों का इसमें स्थान है। इस आदत का कारण क्या है और इसका परिणाम क्या है? इसके बदलने का हेतु क्या है और इसकी प्रक्रिया क्या है? यह सब जीवन विज्ञान पद्धति में बहुत स्पष्ट है—गणित की भांति। किसी को संदेह करने की जरूरत नहीं। शरीरविज्ञान को जानने वाला, मानवविज्ञान को जानने वाला इस सचाई को बहुत जल्दी पकड़ लेता है। उसकी समझ में आ जाता है कि हमारे शरीर में जो विशिष्ट केंद्र हैं चेतना के, उनकी भूमिका क्या है? उनका परिणाम क्या है? यह बात तो शरीरविज्ञानी जानता है, किंतु ध्यान के द्वारा क्रिया कैसे बदलती है और उसका परिणाम क्या होता है, यह शरीरविज्ञानी नहीं जानता। ये दोनों बातें जुड़ जाएं तो सामाजिक जीवन पद्धति बदल सकती है। अभी अधूरी-अधूरी बात चल रही है, इसलिए आज अपेक्षा है कि सामाजिक शिक्षा के साथ अध्यात्म की शिक्षा जुड़े और सामाजिक जीवन प्रणाली के साथ अध्यात्म की जीवन प्रणाली जुड़े। दोनों का योग हो जाए। दोनों का योग होने पर ही नई चेतना जाग सकती है, चेतना का रूपांतरण हो सकता है। चेतना के रूपांतरण के बिना सामाजिक स्थितियां नहीं बदलतीं। हमारी चेतना जब बदलती है तब व्यवहार बदल जाता है।

धर्म ने अहिंसा पर, अपरिग्रह पर बल दिया। इतना बल देने पर भी अहिंसा का विकास जितना होना चाहिए था, उतना नहीं हुआ। एक प्रश्न है—क्यों नहीं हुआ? हजारों वर्षों की लंबी परंपरा में इतना प्रयत्न करने पर भी ऐसा क्यों नहीं हुआ? कारण एक ही मालूम पड़ता है कि जीवन में अहिंसा उतरती है चेतना के बदल जाने पर। जीवन में अपरिग्रह उतरता है चेतना का रूपांतरण हो जाने पर। चेतना तो मूल की स्थिति में है। जितना ममत्व चित्त में चाहिए, पूरा ममत्व चित्त में विद्यमान है, जितनी आसक्ति चाहिए, उतनी आसक्ति चेतना में विद्यमान है, जितनी संघर्षप्रियता, समस्या को संघर्ष के द्वारा सुलझाने की मनोवृत्ति चाहिए, वह चेतना में विद्यमान है और हम स्वप्न लेते हैं कि अपरिग्रह आए, अहिंसा आए। यह कैसे संभव होगा?

चेतना के रूपांतरण का परिणाम

अहिंसा चेतना के रूपांतरण का परिणाम है। असंग्रह चेतना में बदल जाने का एक व्यक्त रूप है अपरिग्रह। जब तक यह परिवर्तन नहीं होता, अहिंसा और अपरिग्रह के विकास की संभावना नहीं हो सकती।

जो व्यक्ति ध्यान करने वाला है, जिसकी चेतना बदली है, उसकी आस्था भी बदल जाएगी। आस्था का पहला आधार यह होगा कि मुझमें असीम शक्तियां हैं, यह विश्वास जागे। यह उसका सबसे पहला परिणाम होगा। यह कसौटी है—ध्यान का अभ्यास करने पर भी दुर्बलता नहीं मिटी तो मान लेना चाहिए कि व्यक्ति ने ध्यान को नहीं पकड़ा, ध्यान ने व्यक्ति को नहीं पकड़ा। दोनों में संबंध जुड़ा नहीं। अपनी शक्तियों में विश्वास होना, यह पहली बात है।

दूसरी बात है, अपनी शक्तियों को जागृत करने में विश्वास होना। यह विश्वास होना कि मैं अपनी शक्तियों को जगा सकता हूं। इसके लिए एक सरल प्रक्रिया अध्यात्म के आचार्यों ने प्रस्तुत की है। कोई काम करना हो तो सबसे पहले दस मिनट के लिए इस पर ध्यान को केंद्रित करो कि मुझमें असीम शक्तियां हैं। फिर दस मिनट अनुभव करो—मेरी शक्तियां जाग उठी हैं, सक्रिय हो उठी हैं। फिर दस मिनट इस बात पर ध्यान केंद्रित करो—मैं अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकता हूं और मैं अपनी समस्या को सुलझा सकता हूं। तीन चरण में प्रयोग होगा। समय आधा घंटे का लगेगा, किंतु जिस कार्य में यदि दस घंटे लगते हैं तो वह पांच घंटे में ही हो जाएगा। मन की दुर्बलता जहां प्रबल है वहां शक्य कार्य भी अशक्य बन जाता है। मन की प्रबलता आती है तो असंभव काम भी संभव लगने लग जाता है। ध्यान का बड़ा परिणाम है—आस्था का बदलना, शक्ति पर भरोसा होना और शक्ति का प्रयोग करना।

ध्यान के परिणाम : समाज के संदर्भ में

जीवन विज्ञान का प्रयोग करने वाले व्यक्ति की चेतना बदलती है। उसकी आस्था बदलती है। उसका आधार यह बनता है कि सद्भावना और सहमति के द्वारा समस्याएं सुलझाई जा सकती हैं। संघर्ष की बात मन से टल जाती है। समस्या को सुलझाने के लिए सद्भावना और सहमति के विकास की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। जीवन विज्ञान का प्रयोग करने वाला व्यक्ति सहमति और सद्भावना की चेतना को जगा लेता है। इससे उसका पारिवारिक जीवन भी सुखी बन जाता है। ऐसा तब घटित होता है जब सौहार्द, सद्भावना और सहमति की बात जागती है। ध्यान का अभ्यास करने वाला व्यक्ति समाज को या किसी व्यक्ति को अपने गुलाम की भांति नहीं देखता। उसकी दृष्टि बदल जाती है। अधिकांश कलह इसलिए होते हैं कि अहंकार को चोट पहुंचती है। पारिवारिक झगड़ों, कर्मचारियों के झगड़ों, अपने नौकरों के झगड़ों में मुख्य कारण मिलेगा दूसरों के अहंकार को चोट पहुंचाना। जो दूसरे के अहंकार को चोट पहुंचाता है, वह यह मान लेता है कि मैं बहुत बड़ा आदमी बन गया। अधिकांश झगड़ों के पीछे यदि कारण खोजा जाए तो पता लगेगा कि कोई बड़ी बात की लड़ाई नहीं है, कोई उद्देश्यपूर्ण बात भी नहीं है, कोई मुद्दा भी नहीं है। एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति के अहं पर चोट की और वह फुफकारने लगा। सांप भी तभी काटता है जब उसके अहं को चोट लगती है, कोई उस पर पैर रख देता है।

सामाजिक समता की दृष्टि

अहंकार को चोट पहुंचाना एक मनोवृत्ति है तो दूसरी मनोवृत्ति है समता और मैत्री का अनुभव करना। छोटे से छोटे व्यक्ति को, अपने नौकर और कर्मचारी को, एक मनुष्य की दृष्टि से देखना, चैतन्य की दृष्टि से अनुभव करना—यह है समता की दृष्टि। इससे सारी समस्या सुलझ जाती है, आदमी में अवमानना और अवज्ञा की भावना बहुत प्रबल होता है। जाने-अनजाने वह व्यक्तियों की अवमानना कर देता है। इतिहास को देखें—पता चलेगा राजा ने सत्ता के मद में एक छोटे-से कर्मचारी की अवमानना कर दी, एक छोटे-से नागरिक की अवमानना कर दी। उसका परिणाम यह हुआ कि सारी सत्ता छिन गई और सम्राट को पदच्युत होना पड़ा। चाणक्य कौन-सा बड़ा था? कोई बड़ा नहीं था। यदि राजा के द्वारा उसकी अवमानना नहीं होती तो शायद इतना बड़ा युद्ध भी नहीं होता और नंद वंश का विच्छेद भी नहीं होता, किंतु अवमानना हुई और उस अकेले व्यक्ति ने, ब्राह्मण ने संकल्प किया—जब तक नंद वंश का विच्छेद नहीं कर दूंगा, तब तक चोटी नहीं बंधेगी, चोटी खुली रहेगी।

जीवन शैली में बदलाव

ध्यान करने वाले व्यक्ति का सारा व्यवहार बदल जाता है। वह यह सोचता है कि उसका क्रोध कितना कम हुआ, व्यवहार कितना बदला, दूसरों को मूल्य देने की भावना कितनी जागी, दूसरों को अपने समान समझने और वैसा व्यवहार करने की वृत्ति कितनी विकसित हुई? जिन लोगों ने ध्यान का अभ्यास किया, उनके बदले हुए जीवन के चित्र भी सामने प्रस्तुत होने चाहिए। प्रवृत्ति और परिणाम—दोनों की संयुक्तता में विश्वास होना चाहिए। ध्यान की धारणा यह है कि आज शुरू करें तो लगना चाहिए कि भीतर में परिवर्तन शुरू हुआ है। यदि यह प्रक्रिया बराबर चलती रहेगी तो लगने लग जाएगा कि बदलाव आ रहा है। कुछ लोग तो साधना को इतना सशक्त बना लेते हैं कि एक बार में ही उनके बदलने का पता लग जाता है और इसी आधार पर यह प्रेरणा जगी है कि आदमी बदल सकता है और उसका पता भी जल्दी ही लग जाता है।

शुद्ध साधनों के प्रति आस्था

आचार्य भिक्षु ने एक सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। वह सिद्धांत दर्शन के क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण है। उस सिद्धांत की व्याख्या, पूरे दो हजार वर्ष के काल में, कुछेक आचार्यों ने ही की है। वह सिद्धांत है साधन-शुद्धि का। साध्य शुद्ध

होना चाहिए, साध्य अभिप्रेत होना चाहिए—इस पर तो बहुत चर्चा की गई, पर जहां साधन का प्रश्न आया वहां यह मान लिया गया कि साध्य बुरे साधन से भी यदि सिद्ध किया जा सके तो ऐसा कर लेना चाहिए। आचार्य भिक्षु ने कहा—शुद्ध साध्य के लिए साधन का शुद्ध होना अनिवार्य शर्त है।

सामाजिक जीवन का आधार

सामाजिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण आधार है सत्य। सत्य विराट और अनंत है। अनंत के विषय में कल्पना नहीं की जा सकती।

सत्य के पांच प्रकार या पांच अर्थ हैं— 1. अस्तित्व सत्य, 2. नियम सत्य, 3. ऋजुता सत्य, 4. अविसंवादिता सत्य, 5. प्रामाणिकता सत्य।

1. अस्तित्व सत्य

सत्य का एक अर्थ है—अस्तित्व अर्थात् जगत का अस्तित्व। हमारा अस्तित्व-जगत इतना बड़ा है कि उसके विषय में एक भाषा में कुछ कह पाना संभव नहीं है।

2. नियम सत्य

सत्य का एक अर्थ है—नियम, जागतिक नियम, सार्वभौम नियम। समय का चक्र अविरल गति से घूम रहा है, यह जागतिक नियम है। दिन होना, रात होना और यह क्रम निरंतर चलते रहना—यह जगत का नियम है। गति, स्थिति और परिवर्तन—ये तीनों जागतिक नियम हैं। अस्तित्व सत्य और जागतिक सत्य—ये दोनों सत्य समाज के साथ सीधे जुड़े हुए नहीं हैं। प्रत्यक्षतः समाज के साथ इनका संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता।

नियम सत्य का दूसरा संदर्भ है—मनुष्यकृत नियम। वह भी एक सत्य है। मनुष्य नियम बनाता है। उनका पालन होता है और समाज के साथ उसका संबंध जुड़ा रहता है। चाहे धर्म-व्यवस्था के नियम हों या समाज-व्यवस्था के नियम हों—वे सत्य हैं। उन्हीं के आधार पर धर्म-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था का निर्माण होता है। एक धर्म-गुरु अपने धर्म की आचार संहिता, मर्यादा और परंपरा के आधार पर निर्णय करता है और समाज-व्यवस्था का संचालन समाज-संहिता के आधार पर होता है। यह सब सत्य है। इसमें सचाई है।

ये नियम जागतिक या सार्वभौम नहीं हैं। ये सब कृतक हैं। मनुष्य द्वारा निर्मित किए हुए हैं और इनसे समाज का संबंध जुड़ता है, समाज प्रभावित होता है। नियमों का बड़ा जाल बिछा हुआ है। नए नियम भी बनते रहते हैं, पुराने मिटते हैं और कुछ में परिवर्द्धन, परिशोधन होता है। नियमों का पालन भी होता है और उल्लंघन भी होता है। नियमों का अतिक्रमण असत्य या अन्याय माना जाता है।

3. ऋजुता सत्य

सत्य का एक अर्थ है—ऋजुता। यह आध्यात्मिक सत्य है। ऋजुता का अर्थ है—सरलता। ऋजुता का अर्थ है—अमाया, अछलना, अप्रवंचना। माया असत्य है। छलना और प्रवंचना असत्य है। ऋजुता के तीन प्रकार हैं—मन की ऋजुता, वचन की ऋजुता और शरीर की ऋजुता। ये तीनों सत्य हैं। ये हैं—मानसिक सत्य, वाचिक सत्य और कायिक सत्य। छिपाना असत्य है। आदमी छिपाता बहुत है। वह अपनी कमजोर और अप्रकटनीय स्थिति को छिपाता है। जो पाने की लालसा है उसे भी छिपाता है। इस प्रवृत्ति ने संदेह को जन्म ही नहीं दिया, उसे बढ़ाया भी है। ऋजुता में संदेह नहीं उभरता, अविश्वास पैदा नहीं होता। संदेह में शक्ति का अपव्यय होता है। संदेह के अभाव में आदमी पच्चीस प्रतिशत शक्ति बचा लेता है। यह शक्ति के अपव्यय का न्यूनतम अनुमान है। मायाचार में शक्ति बहुत खर्च होती है।

संदेह की कोई सीमा नहीं है। आदमी प्रत्येक प्रवृत्ति में संदेह से घिरा रहता है। संदेह के कारण अनेक कल्पनाएं और अनेक विचार उत्पन्न होते हैं और तब आदमी न जाने क्या-क्या नहीं कर लेता। संदेह के कारण शक्ति का अत्यधिक अपव्यय होता है। छिपाने की बात से संदेह उत्पन्न होता है। यदि संदेह और अविश्वास न हो तो अनेक दुर्घटनाएं और संघर्ष समाप्त हो सकते हैं। पारिवारिक और सामाजिक कलहों का मुख्य कारण संदेह ही होता है। संदेह के कारण बड़े-बड़े साम्राज्य नष्ट होते देखे गए हैं। इस ऋजुतात्मक सत्य का अतिक्रमण करने के कारण समाज ने कितनी काल-रात्रियां भोगी हैं, कितनी कठिनाइयों का सामना किया है!

ऋजुता में संदेह नहीं पनपता। संदेह नहीं होता है तो अनेक दुर्घटनाएं अपने आप टल जाती हैं।

क्या समाज में ऋजुता का विकास किया जा सकता है? यदि समाज को यथार्थ के आधार पर चलना है, व्यवहार को मानवीय धरातल पर चलना है, उसे स्नेहपूर्ण और मृदुतापूर्ण बनना है तो ऋजुता को प्रश्रय देना ही होगा। छलना, प्रवंचना, संदेह और अविश्वास के भूत को भगाना ही होगा। दो व्यक्ति पास-पास बैठे हैं, पर उनके मन की

दूरी हजारों मील की है, क्योंकि उनके बीच छलावा है, दुराव है। दो व्यक्ति हजारों मील दूर हैं, पर उनका मन निकट है, समीप है, मन की दूरी का कारण है संदेह, छलावा और छिपाव। मन की निकटता का कारण है ऋजुता और स्पष्टता।

4. अविसंवादिता सत्य

सत्य का एक अर्थ है—अविसंवादिता अर्थात् कथनी और करनी की समानता। सामाजिक जीवन के साथ इसका बहुत बड़ा संबंध है। जब तक व्यक्ति में राग-द्वेष है, प्रियता-अप्रियता का द्वंद्व है, तब तक कथनी और करनी, ज्ञान और आचरण की दूरी मिट नहीं सकती। इनमें अविसंवादिता आ नहीं सकती। कथनी और करनी की विसंवादिता को मिटाना ऊंचे शिखर पर आरोह करने जैसा कार्य है।

जैन परंपरा में वीतराग और अवीतराग की सात कसौटियां हैं। उनमें एक है विसंवादन। जिसमें विसंवादन होता है, कथनी और करनी में समानता नहीं होती—वह है अवीतराग। जिसमें कथनी और करनी की समानता होती है, अविसंवादन होता है—वह है वीतराग। राग-ग्रस्त व्यक्ति जैसा कहता है वैसा करता नहीं। यह एक लक्षण है, पर मात्रा में तरतमता होती है। यह एक मान्य तथ्य है कि ज्ञान और आचरण की दूरी को पूर्णतः मिटाया नहीं जा सकता, किंतु कम किया जा सकता है। हां, आत्मा और चैतन्य के प्रति जागृत व्यक्ति भी उस दूरी को पालता है, बढ़ाता है तो आश्चर्य होता है। इसका स्पष्ट कारण यही है कि व्यक्ति ने अहंकार और ममकार से अभी छुटकारा नहीं पाया है। ये दो हेतु उस दूरी के कारण हैं।

ममत्व विकट समस्याएं पैदा करता है। इसके कारण आदमी का सिद्धांत और आचरण अलग-थलग जा पड़ते हैं। कथनी और करनी की दूरी बढ़ जाती है। यह सामाजिक जीवन को भी प्रभावित करने वाली बहुत बड़ी समस्या है।

5. प्रामाणिकता सत्य

समाज का अर्थ है—व्यवहार। दस-बीस आदमियों का एकत्र हो जाना ही समाज नहीं है। समाज का तात्पर्य होता है—लेन-देन, विनिमय, व्यवहार। समाज की यही परिभाषा है। हजार आदमी हों या हजार पशु हों—वह समाज नहीं कहलाता। जहां परस्पर विनियम होता है, व्यवहार होता है—वह समाज कहलाता है। संस्कृत में दो शब्द हैं—समाज और समज। जहां व्यवहार होता है वह है समाज और जहां व्यवहार की कोई गुंजाइश ही नहीं होती, वह है समज। पशुओं का समाज नहीं होता। उनका समूह समज कहलाता है। आदमियों का समूह समाज कहलाता है, क्योंकि वहां विनिमय है।

आज के समाज की भयंकर समस्या है व्यवहार की अप्रामाणिकता। अनैतिक, क्रूर और जटिल व्यवहार के कारण समाज में हजारों समस्याएं उत्पन्न हुई हैं। सामाजिक मूल्यों का विकास इसलिए नहीं हो रहा है कि आदमी में प्रामाणिकता नहीं है। एक समय था जब भारतवासी प्रामाणिकता में बढ़े-चढ़े थे। उस समय यहां घी-दूध की नदियां बहती थीं। चोरी-डकैती का नामोनिशान नहीं था। बड़े से बड़ा राज्याधिकारी प्रामाणिकता से कार्य करता था। महामात्य चाणक्य मगध साम्राज्य का सर्वेसर्वा था। जब वह राज्य का कार्य करता तब राज्य का दीपक जलाता और जब वह अपना व्यक्तिगत कार्य करता तब अपने घर का दीया जलाता। कितनी प्रामाणिकता! यह है प्रामाणिक व्यवहार। प्रामाणिक व्यवहार जीवन का आधार है। इससे व्यक्तित्व निखरता है।

जीवन-विज्ञान की शिक्षा पद्धति में विद्यार्थी को प्रामाणिक जीवन जीने की कला सिखाई जाती है। यदि सत्य के ये पांचों अर्थ विद्यार्थी के जीवन में समाविष्ट होते हैं तो वह विद्यार्थी राष्ट्र का उन्नत नागरिक बन सकता है और उसका व्यक्तित्व समाज के लिए दीप-स्तंभ बन सकता है।

गथार्थवादी दृष्टिकोण और ध्यान

यह अपेक्षा की जाती है कि आध्यात्मिक व्यक्तित्व का निर्माण हो। यह केवल युगीन अपेक्षा ही नहीं है, समाज की शाश्वत अपेक्षा भी है। दो प्रकार के व्यक्तित्व होते हैं—भौतिक व्यक्तित्व और आध्यात्मिक व्यक्तित्व। भौतिक व्यक्तित्व की जो रेखाएं खींची जाती हैं, उनमें अहंकार और ममकार की संभावना निहित है। जिस व्यक्तित्व का निर्माण सचाइयों के आधार पर होता है, काल्पनिक रेखाओं के आधार पर नहीं होता, वह आध्यात्मिक व्यक्तित्व होता है।

समाज में सबसे बड़ा प्रश्न है संबंधों का। व्यक्ति अकेला नहीं है। वह समाज का जीवन जी रहा है। सामाजिक जीवन का अर्थ है संबंधों का जीवन—पदार्थ के साथ, परिवार, गांव और राष्ट्र के साथ संबंध। इन संबंधों की पूरी शृंखला है। सामाजिक प्राणी इस शृंखला से बंधा हुआ है। आध्यात्मिक व्यक्ति भी संबंधों को सर्वथा छोड़ नहीं सकता। जब तक जीवन-यात्रा चलती है तब तक संबंध भी

बने रहते हैं। संबंधों का जीवन आध्यात्मिक व्यक्ति को भी जीना पड़ता है, पर दोनों के जीवन में बड़ा अंतर होता है। भौतिक व्यक्ति अहंकार और ममकार के साथ संबंध जोड़ता है। उसका कोई भी संबंध ऐसा नहीं होता, जिसकी पृष्ठभूमि में अहंकार नहीं बोलता हो या ममकार की परछाई न हो। दोनों होते हैं। 'मैं हूं'—यह अपने अस्तित्व की अनुभूति है—अहं अस्मि—'मैं हूं।' 'मैं हूं' का अर्थ हो जाता है—'मैं धनवान हूं', 'मैं शासक हूं', 'मैं शक्तिशाली हूं' आदि-आदि। अस्तित्व-बोध का अहं जितना खतरा पैदा नहीं करता, दूसरे अहं बहुत बड़े खतरे पैदा कर देते हैं। अहं व्यक्ति को बांट देता है। यह छोटा है, मैं बड़ा हूं। यह नौकर है इसलिए छोटा है, मैं मालिक हूं इसलिए बड़ा हूं। आदमी को विभक्त करने वाली पहली रेखा है अहंकार। मैं कुलीन हूं, यह कुलीन नहीं है। मैं स्पृश्य हूं, यह अस्पृश्य है। ये सारी भेद-रेखाएं अहंकार के आधार पर खिंची हुई हैं। पूरा समाज इन रेखाओं से भरा पड़ा है।

जब हम जातिवाद की रेखाओं पर सोचते हैं तब लगता है—कितना विभाजन हो गया है इनसे? प्रारंभ में समाज चतुर्वर्ग—चार वर्गों में ही विभक्त था। उसके अवांतर विभाग और भेद-रेखाएं इतनी हो गईं कि आदमी कहां है—बेचारे का पता नहीं चलता, आदमी को तो कभी पहचाना ही नहीं जा सकता। एक जाति में भी इतनी अवांतर जातियां हैं कि आदमी उनके नीचे दबा पड़ा है, उसका पता ही नहीं है।

दूसरा तत्त्व है ममकार। यह भी बांटता है आदमी को। ममकार का अर्थ है—मेरा। जिसके साथ 'मेरा' शब्द जुड़ गया, वह भिन्न वस्तु हो गई और जिसके साथ 'तेरा' शब्द जुड़ गया, वह भिन्न वस्तु हो गई। आदमी भी अलग हो गया। 'मेरा बेटा'—बेटा अलग हो गया, मेरा अलग हो गया। वह भी बंट गया। मेरा घर और तेरा घर—एक दीवार खिंच गई। दो सगे भाई भी जब 'मेरे' 'मेरे' में रहते हैं तो बीच में दीवार खिंच जाती है। अहंकार ने व्यक्ति को बांटा है। ममकार ने भी व्यक्ति को बांटा है। इस प्रकार भौतिक व्यक्तित्व का अर्थ होता है व्यक्तियों को तोड़ना, बांटना।

आध्यात्मिक व्यक्तित्व तोड़ता नहीं, जोड़ता है। इसी सचाई को प्रकट करने के लिए यह घोषणा की गई—'एक्का मणुस्सजाई'—मनुष्य जाति एक है। जिस मंच से यह घोषणा हुई, वह आध्यात्मिक मंच है। वहां व्यक्ति-व्यक्ति में कोई भेद का अनुभव नहीं किया गया। मनुष्य जाति के सिवाय कोई दूसरी जाति ही नहीं है।

आध्यात्मिक व्यक्तित्व में भी पदार्थ का भोग तो होगा। आध्यात्मिक व्यक्तित्व भी खाएगा, पीएगा, कपड़े भी पहनेगा, मकान में भी रहेगा—यह सब कुछ करेगा, पर तोड़ेगा नहीं। वह कभी यह नहीं कहेगा—मेरा कपड़ा, मेरा मकान, वह कहेगा—इस मकान में मैं अभी रह रहा हूं। यह कपड़ा मेरे पहनने के काम आ रहा है। गांवों में जब लोगों से पूछते हैं—यह मकान तुम्हारा है? घर मालिक कहता है—'मकान किसका! भगवान का है महाराज, मैं तो यहां रहता हूं।' इस कथन के पीछे एक सिद्धांत है, ममत्व नहीं है। मकान किसका हो सकता है? किसी का नहीं हो सकता। यह सचाई है—आज तक भी यह संपदा और भूमि किसी की नहीं बनी। इसीलिए कहा जाता है, यह संपदा और भूमि शाश्वत कन्याएं हैं, कुंआरी कन्याएं हैं। आज तक इनका पाणिग्रहण नहीं हुआ, संपत्ति शाश्वत कुंआरी है। अनंत काल बीत जाने पर भी वह वैसी ही है और वैसी ही रहेगी।

पदार्थ का भोग करना और पदार्थ के साथ ममत्व जोड़ना—ये दोनों भिन्न बातें हैं। ये दोनों एक नहीं हैं। आध्यात्मिक व्यक्तित्व में पदार्थ का उपयोग अवश्य होता है, पर ममत्व नहीं जुड़ता। उसमें 'पदार्थ' और 'मेरा' अलग रहते हैं—जुड़ते नहीं। आध्यात्मिक व्यक्तित्व यथार्थवादी दृष्टिकोण के आधार पर निर्मित होता है और भौतिकवादी व्यक्तित्व काल्पनिक रेखाओं के आधार पर निर्मित होता है। यह भ्रांति न रहे कि आध्यात्मिक व्यक्ति पदार्थ का उपभोग नहीं करता। वह पदार्थ का उपयोग और उपभोग करता है और वास्तव में वही पदार्थ का सही उपभोग करता है। भौतिकवादी पदार्थ का उपभोग कम करता है, दुख का उपभोग अधिक करता है। वह प्रत्येक चीज के साथ दुख को जोड़ देता है।

जब आध्यात्मिक व्यक्तित्व बनता है तब सबसे पहले अहंकार और ममकार की बेड़ियां टूटती हैं। जब तक ये बेड़ियां नहीं टूटती तब तक कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक व्यक्तित्व का निर्माण नहीं कर सकता। ध्यान की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है—सत्य की दिशा में प्रस्थान, सत्य के निकट जीने का अभ्यास। सत्य को झुठलाने का प्रयत्न नहीं करना ध्यान की उपलब्धि है। ध्यान के अभ्यास के बाद भी यदि यथार्थवादी दृष्टिकोण नहीं बना तो मान लेना चाहिए कि ध्यान सधा नहीं। ध्यान की निष्पत्ति है—सचाई का जीवन जीना। यही आध्यात्मिक व्यक्तित्व का निर्माण है। आध्यात्मिक व्यक्तित्व यथार्थ के आधार पर खड़ा होता है। आध्यात्मिक न झूठ का सहारा लेता है और न किसी को

धोखा देता है। वह सत्य के साथ इतना जुड़ा हुआ होता है कि जहां भी सत्य का अतिक्रमण होता है, वहां से अपने आप को पीछे सरका लेता है।

लोग महसूस करते होंगे कि ये सारी काल्पनिक बातें हैं। सचाई से भला कभी जीवन चल सकता है? आदमी में मूढ़ता इतनी गहरा गई है कि जो काल्पनिक है, उसे वह यथार्थ मान रहा है और जो यथार्थ है, उसे अस्वाभाविक और काल्पनिक मान रहा है। यह अभिप्राय या विपर्यय एक-दो व्यक्तियों का नहीं है। समूचे युग का ही है। आज के युग का यह उलटा ही दृष्टिकोण है। भौतिक व्यक्तित्व की देन है मूढ़ता। मूढ़ता में जीना और मूढ़ता को पालते जाना, यह भौतिकवादी दृष्टि का लक्षण है। यदि यह दृष्टिकोण न हो तो भौतिकवाद ही समाप्त हो जाए। आंज यह धारणा बन गई है कि सचाई से कुछ नहीं हो सकता। सचाई से काम नहीं चल सकता। झूठ से काम चलता है। इसी आधार पर जीवन की सारी प्रक्रिया चलती है। आज का व्यक्ति माता-पिता से झूठ बोल सकता है, भाई और मित्र से झूठ बोल सकता है, पत्नी से झूठ बोल सकता है, धर्म-गुरुओं को भी वह नहीं छोड़ता। वहां भी झूठ का व्यवहार कर लेता है, क्योंकि झूठ के सहारे दो मिनट में काम बन जाता है और सत्य से काम नहीं बनता। ऐसे तर्क देने वालों ने कभी नहीं सोचा कि झूठ से काम बनता है या झूठ पाल रहे हो, इससे काम बनता है? तुम भी झूठ पाल रहे हो और काम बनाने वाला भी झूठ पाल रहा है। दोनों झूठ पालते हैं इसलिए काम बनता है। आदमी बेईमानी को छिपाना चाहता है, बुराई करना चाहता है और तब करता है, जब झूठ का सहारा मिल जाए।

आध्यात्मिक व्यक्तित्व में चिंतन की धारा बदल जाती है। वह कभी गलत काम करना ही नहीं चाहता। उसे झूठ के सहारे की कभी जरूरत ही नहीं होती। झूठ का सहारा तो तब चाहिए जब किसी गलत काम को संभालना हो या उसे पालना हो। जो व्यक्ति यथार्थ की भूमिका पर ही काम करता है, वह सोचता है—काम बने या न बने, मुझे झूठ का सहारा कभी नहीं लेना है। झूठ के सहारे जो काम बनता है, वह काम भी झूठा ही होता है।

आज की सबसे विकट समस्या है—भौतिक व्यक्तित्व का विकास। हम इसे पदार्थ-विकास के साथ न जोड़ें। पदार्थ का विकास होना भौतिक व्यक्तित्व का विकास नहीं है। पदार्थ का विकास आध्यात्मिक व्यक्ति भी कर सकता है, क्योंकि पदार्थ एक अपेक्षा है, आवश्यकता है। आज का आदमी पदार्थ से इतना जुड़ गया कि उसका दृष्टिकोण पदार्थपरक बन गया।

ध्यान और धर्म की निष्पत्ति यह है कि पदार्थ और चेतना के बीच की रेखा स्पष्ट ज्ञात रहे। जब पदार्थ और चेतना के भेद की रेखा विस्मृत हो जाती है तब सारी समस्याएं उत्पन्न होती हैं। हमारा यह दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से निष्पन्न हो कि पदार्थ पदार्थ है, चेतना चेतना है। दोनों के बीच में एक भेद-रेखा है।

साधक कायोत्सर्ग करते हैं। क्या वे इसलिए करते हैं कि विश्राम मिल जाए, रक्तचाप कम हो जाए, शरीर की क्रियाएं संतुलित हो जाएं? यदि इन्हीं कारणों से किया है तो उन्होंने शवासन किया है, कायोत्सर्ग नहीं। शवासन का अर्थ है—मुर्दे का आसन। जब उस आसन में चेतना नहीं है तो वह शवासन ही है। उसमें चेतना छूट जाती है और मुर्दे का भान होता रहता है। कायोत्सर्ग शवासन नहीं है। वह उससे भिन्न है। कायोत्सर्ग में चेतना का आभास होता है, शरीर छूटता है और काया का उत्सर्ग करने वाला चेतन बच जाता है। एक में चेतन बचता है और दूसरे में शरीर बचता है। दोनों शब्द यही स्पष्ट ध्वनित करते हैं, दोनों शब्दों का अपना गहरा अर्थ है। कायोत्सर्ग में जो जाता है वह चेतन है, द्रष्टा है, वह काया को छोड़ता है। दोनों के बीच में एक रेखा है। तुम अलग हो, मैं अलग हूं। हम दोनों साथ-साथ जी रहे हैं, किन्तु कायोत्सर्ग में मैं इस सचाई का अनुभव कर रहा हूं कि तुम तुम हो, मैं मैं हूं। यदि इस सचाई का अनुभव नहीं होगा तो कायोत्सर्ग नहीं होगा, कोरा शवासन होगा।

भावनाशुद्धि के लिए भावना का विकास अपेक्षित है। हर क्रिया के साथ भाव जुड़ना चाहिए, प्रत्येक क्रिया के साथ चैतन्य का अनुभव होना चाहिए। चैतन्य से हमारा तात्पर्य यह है कि चेतन अलग है, शरीर अलग है। शरीर से भिन्न चेतना का अनुभव करना चैतन्य है, जागरूकता है। कायोत्सर्ग देहाध्यास को मिटाने की महत्त्वपूर्ण साधना है। इससे विवेक चेतना का जागरण होता है। विवेक चेतना है—शरीर अलग है, मैं अलग हूं जब शरीर के साथ भी ममकार नहीं रहा तो फिर अन्य पदार्थ के साथ भी ममकार नहीं रहेगा। सारे ममकार का जनक है शरीर। शरीर के प्रति जितनी गहरी मूर्च्छा होती है, उतनी गहरी मूर्च्छा पदार्थों के साथ भी होती चली जाती है। जिस व्यक्ति का अपने शरीर के प्रति ममत्व छूट गया, जिसने चैतन्य का शरीर से पृथक अनुभव कर लिया, वह कभी शरीर के प्रति मूर्च्छावान नहीं हो सकता। जब देहाध्यास प्रबल होता है, देहासक्ति का प्राबल्य होता है तब शरीर के प्रति मूर्च्छा जागती है और

तब भौतिक अस्तित्व के प्रति भी आसक्ति जाग जाती है। तब उसके सामने केवल भौतिक अस्तित्व दृश्य होता है।

कायोत्सर्ग का प्रयोग चैतन्य के जागरण का प्रयोग है। पैर के अंगूठे से लेकर सिर तक प्रत्येक अवयव के प्रति जाग जाना, शरीर के प्रति जाग्रत हो जाना, शरीर की प्रकृति को समझ लेना, शरीर की सचाइयों को जान लेना—यह सारी फलश्रुति है कायोत्सर्ग की। जो व्यक्ति इतना जागरूक हो जाता है, वह साक्षात्कार की भूमिका में चला जाता है। आत्मा और परमात्मा में साक्षात्कार से पहले हम अपने व्यक्तित्व का साक्षात्कार करें। यह जान लें कि हमारा व्यक्तित्व क्या है? किन-किन तत्त्वों से बना है? इसका साक्षात्कार होता है कायोत्सर्ग के द्वारा।

पुराने जमाने की एक बात है। एक सम्राट के मन में स्वर्ग और नरक का साक्षात्कार करने की इच्छा उत्पन्न हुई। नगर में एक संन्यासी आया हुआ था और लोगों में उसकी शक्ति-संपन्नता की चर्चा थी। बात सम्राट तक भी पहुंची। सम्राट वहां गया और प्रार्थना की, 'महाराज! स्वर्ग और नरक का साक्षात्कार कराएं।' संन्यासी बोला, 'राजन्! साक्षात्कार करके क्या करोगे? अच्छा नहीं है स्वर्ग और नरक का साक्षात्कार करना।' सम्राट ने पुनः आग्रह किया। संन्यासी ने कहा, 'बैठ जाओ यहां और कुछ क्षण तक ध्यान करो।' ध्यान किया। संन्यासी ने कुछ ही क्षणों में कहा, 'अरे, सम्राट! तुम्हारा चेहरा कितना भद्दा है। कोई अंधेरे में देख ले तो भूत समझकर डर जाए। अरे, मुंह पर तो मक्खियां भिनभना रही हैं, लार टपक रही है। क्या तुम स्वच्छ रहना भी नहीं जानते? किसने बना दिया तुमको सम्राट?'

सम्राट ने सुना, वह अवाक् रह गया। उसका मुंह तमतमा उठा। होंठ फरकने लगे, त्यौरियां चढ़ गईं। आंखों से खून ही जैसे बरसने लगा, इतना गुस्सा कि जैसे वह पागल-सा हो गया हो। तलवार निकालकर सम्राट बोला, 'तुम मुझे क्या नरक दिखाओगे? मैं अभी नरक का मजा चखाता हूं तुम्हें। तुमको विवेक ही नहीं है कि किसके सामने बोल रहे हो? क्या कह रहे हो?'

संन्यासी हंस पड़ा। वह बोला, 'सम्राट! नरक का साक्षात्कार हुआ या नहीं? देखो सम्राट! जब-जब व्यक्ति आवेश में होता है, वह भान खो बैठता है, तब-तब वह नरक का ही साक्षात्कार करता है।' यह सुनते ही सम्राट संभला। वह गहराई में चला गया। उसने सोचा—सचमुच, संन्यासी मुझे ठीक ही कह रहा है। मुझे पहले सोचना चाहिए था कि संन्यासी के कथन का आशय क्या है? मैंने सोचा ही नहीं और क्रोध में आविष्ट हो गया। सम्राट अनुताप करने लगा। उसने नम्रता के साथ संन्यासी के चरण छुए। वह बोला, 'महाराज! क्षमा करें। मैं भान ही भूल गया था, मैंने अपराध किया है।' सम्राट के चेहरे पर शांति छा गई। जब उत्तेजना के बाद शांति आती है तब चेहरे पर सौजन्य भाव झलकने लगता है। सम्राट के व्यवहार में विनय और श्रद्धा प्रकट हुई। संन्यासी ने तत्काल कहा, 'सम्राट! तुम स्वर्ग का साक्षात्कार करना चाहते थे—तुम्हारी वर्तमान भावधारा और स्थिति साक्षात् स्वर्ग सदृश है।' सम्राट समझ गया।

जिसे स्वर्ग और नरक का साक्षात्कार करना है, वह अपने व्यक्तित्व को देखे। दोनों उसी में हैं। जब व्यक्ति गहराई में उतरकर देखता है—मेरा व्यक्तित्व कैसा है? तब उसे सब कुछ ज्ञात हो जाता है। अपेक्षा है गहराई में जाने की, डुबकियां लेने की। यह बात प्रयोग के बिना संभव नहीं है। जिस व्यक्ति ने प्रयोग नहीं किया, अपने भीतर झांकने का प्रयत्न नहीं किया, केवल दो खिड़कियों (आंखों) को खुला रखा, भीतर देखने के लिए तीसरी खिड़की (तीसरे नेत्र) को खोला ही नहीं, वह इस सत्य को कभी नहीं पकड़ पाएगा। वह केवल शब्दों के जाल में उलझा रहेगा। उसकी उलझन कभी समाप्त ही नहीं होती।

हम शब्दों की दुनिया में जीते हैं। शब्दों का विवाद चलता ही रहता है। उसका कभी अंत ही नहीं आता। जो व्यक्ति अनुभव में चला जाता है वह झगड़ा करता ही नहीं और जो अनुभव में नहीं जाता, वह कभी झगड़ा छोड़ता नहीं। जहां तर्क है वहां प्रतितर्क है। मान्यताओं और सिद्धांतों की लड़ाइयां तर्क के आधार पर होती हैं। अनुभव के आधार पर कोई लड़ाई नहीं होती। अनुभव पर कोई जाना नहीं चाहता और लड़ाई को छोड़ना नहीं चाहता, यह एक समस्या है। इन सब समस्याओं से निपटने का उपाय है—अनुभव का जागरण। अनुभव के जागते ही वैयक्तिक और सामाजिक—दोनों समस्याएं समाहित हो जाती हैं।

एक उदाहरण देखें—उर्दू के प्रसिद्ध शायर मिर्जा साहब लखनऊ गए। सभा हो रही थी। कुछ लोग दिल्ली से आए। सभा में हंगामा हो गया। मिर्जा साहब ने कहा, 'सब शांत रहें। सभा भंग क्यों करना चाहते हैं?' परिषद् से आवाज आई, 'हमारा एक विवाद है। जब तक वह विवाद नहीं मिटेगा तब तक सभा नहीं होने देंगे।' मिर्जा साहब ने पूछा, 'क्या है विवाद?' वे बोले, 'हम निर्णय करना चाहते हैं कि रक्त शब्द पुल्लिंग है अथवा स्त्रीलिंग? हम दिल्ली वाले रक्त को स्त्रीलिंग मानते हैं और लखनऊ वाले

पुल्लिंग मानते हैं। पर वास्तव में वह है क्या, इसका निर्णय अभी होना चाहिए।'

मिर्जा साहब बोले, 'बहुत छोटी बात है। जब स्त्रियां बैठी होती हैं तब रक्त स्त्रीलिंग होता है और जब पुरुष बैठे होते हैं तब रक्त पुल्लिंग होता है।'

आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार कलश (श्लोक-9) में लिखा है—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं,
क्वचिदपि च न विद्मो याति निपक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्,
अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव।।

जब अनुभव जागता है तब न वाद काम देता है, न प्रमाण काम देता है, न निपेक्ष काम देता है। ये सारे वाद और प्रमाण तथा निक्षेप न जाने कहां छिप जाते हैं। कहीं द्वैत लगता ही नहीं।

ध्यान का सबसे बड़ा परिणाम है—अनुभव का जागरण। जब ध्यान के द्वारा अनुभव नहीं जागता तो मानना चाहिए कि ध्यान की निष्पत्ति पूरी नहीं हुई है। ध्यान की साधना करने वाले व्यक्ति में कुछ न कुछ अनुभव जागता ही है। अनुभव का जागना एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। जिस दिन प्रत्येक अनुभव-चेतना से संपन्न होगा, स्वस्थ समाज रचना का सपना सच में रूपायित हो जाएगा। ❖

परमार्थ और व्यवहार

साधना के चौराहे पर खड़े साधक ने सोचा, किस ओर बढ़ूं?

एक ओर उपदेश है, दूसरी ओर आचरण।

तीसरी ओर प्रचार है तो चौथी ओर मौन-समाधि।

निर्णय पर नहीं पहुंच पाया। सोचा—क्या चारों का संकलन ही साधना है?

नहीं-नहीं, यह मिथ्याभिनिवेश है।

उसने विश्लेषण किया—

उपदेश में गर्व होता है और आचरण में बलिदान।

प्रचार में लोकैषणा है और मौन में आत्मोपलब्धि।

क्या उपदेश करना प्रत्येक साधक का कर्तव्य है?

नहीं-नहीं, भला कौन किसे सुधार सकता है जो अज्ञेय है, अनंत है? उसका उपदेश मोह-ममता में जकड़ा हुआ मानव क्योंकर दे सकता है? आत्मा का उद्बोधन उसका कर्तव्य है। वह करे, इसी में उसकी सफलता है। यह एक पक्ष है, नैश्चयिक मार्ग है।

दूसरा पक्ष है—निस्वार्थ भाव से दिए जाने वाले उपदेश में गर्व नहीं, सात्त्विक गौरव होता है। जनहिताय किए जाने वाले नैतिक प्रचार में लोकैषणा नहीं, जीवनैषणा है।

दोनों पक्षों की अपनी-अपनी स्वतंत्र भूमिका है। जिसको जो रूचे, उसी पक्ष में वह खड़ा हो, परंतु दोनों की मर्यादाओं का विस्मरण न हो यह अपेक्षित है, यह व्यवहार मार्ग है।

—मुनि दुलहराज

> "कायोत्सर्ग क्यों? इसका सीधा-सा उत्तर है—दुख-मुक्ति के लिए। जैन आगमों में एक स्थान पर लिखा है—कायोत्सर्ग से अस्थि, मांस और रोमकूपों को सुख प्राप्त होता है। शरीर की मांसपेशियों को आराम मिलता है। शरीर शिथिल होते ही विचार शांत होने लगते हैं। विचार-शांति का फलित है—चैतन्य का अनुभव, भेद विज्ञान की अनुभूति।"

कायोत्सर्ग : साधना और फल

❑ साध्वी राजीमति ❑

काउस्सग्गेणं भंते! जीवे किं जणयइ? काउस्सग्गेणं तीयपड्डप्पन्नं पायच्छितं विसोहेइ। विसुद्धपायच्छिते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभारोव्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहंसुहेणं विहरइ।।

—भंते! कायोत्सर्ग से जीव क्या प्राप्त करता है?

कायोत्सर्ग अतीत और वर्तमान के प्रायश्चित्तोचित कार्यों का विशोधन करता है। ऐसा करने वाला व्यक्ति भार को नीचे रख देने वाले भार-वाहक की भांति स्वस्थ हृदय वाला—हल्का हो जाता है और प्रशस्त-ध्यान में लीन होकर सुखपूर्वक विहार करता है। कायोत्सर्ग के परिणाम हैं—1. अतिचार का विशोधन। 2. हृदय की स्वस्थता और भार-हीनता। 3. प्रशस्त-ध्यान की उपलब्धि।

कायोत्सर्ग के पीछे मुख्य दो उद्देश्य हैं—1. दोषों, भूलों की विशुद्धि के लिए कायोत्सर्ग करना, 2. शरीरबल, मनोबल और आत्मबल जगाने और बढ़ाने के लिए कायोत्सर्ग का विधान है।

कायोत्सर्ग एक साथ दो कार्य करता है, जैसे नीम का लेप व्रण को भीतर से शुद्ध करता है और बाहर से भरता है।

व्रण चिकित्सा की विधि—व्रण (फोड़ा) के दो प्रकार हैं—द्रव्य व्रण और भाव व्रण। द्रव्य व्रण जो शरीर में प्रकट होता है—उसके आठ प्रकार बताए गए हैं—1. जो व्रण आकार में छोटा, छोटे मुंह वाला, रक्तरहित, भीतर दबा हुआ होता है। इस व्रण की चिकित्सा करने की विशेष अपेक्षा नहीं होती।

2. जो फोड़ा नीचे गहरा नहीं, किंतु बाहर उभरा होता है। ऐसे फोड़ों की चिकित्सा के लिए केवल 'मर्दन' पर्याप्त माना गया है। इससे खून बिखर जाता है।

3. यह फोड़ा कुछ गहरे में होता है। यहा कांटा, कंकर, खपाट के कारण होता है। इसलिए शल्य को निकाल कर उसमें कर्ण मैल जैसा कोई पदार्थ भर देना ही पर्याप्त है। यही उसकी चिकित्सा है।

4. यह फोड़ा पीड़ाकारक होता है। इसमें जो शल्य होता है उसे निकाल देने के बाद भी जो रक्त और पीप शेष रह जाता है, उसे मर्दन या ऐसे किसी दबावप्रधान प्रयोग से निकाल दिया जाता है। यही उसकी चिकित्सा है।

5. कुछ ऐसे व्रण भी होते हैं जो रक्त निकालने के बाद भी पुनः भर जाते हैं, उन पर कभी लेप लगाया जाता है और कभी गर्म भाप का सेक दिया जाता है। इस प्रकार ऐसे फोड़े स्वस्थ हो जाते हैं। ओषधि उनकी चिकित्सा है। बढ़ती हुई पीप को रोकने के लिए रोगी को शामक ओषधि दी जाती है। अनुकूल पथ्याहार दिया जाता है। यह हुई पथ्यौषधि।

7. पीप के फैलने से आसपास वाली जगह सड़ जाती है। वह सड़ान आगे नहीं बढ़े, इसलिए फोड़े को पूर्णतया काट दिया जाता है। वापस न बने, इसलिए उस रिक्त स्थान पर सेक, ओषधि-दवा तथा बराबर संभाल रखी जाती है। इसमें विश्राम चिकित्सा भी चाहिए।

8. अंतःव्रण—कुछ ऐसे भी व्रण होते हैं जिन्हें समाप्त करने के लिए उस अवयव को छेदा या काटा जाता है। यह अंतिम चिकित्सा है। इसे केवल चिकित्सा नहीं कह कर पूरे शरीर की देखभाल भी कहा जा सकता है।

भावव्रण चिकित्सा विधि—यही चिकित्सा विधि भावव्रणों की है। ये व्रण, चरित्र-पुरुष के शरीर में होते हैं। कुछ व्रण मूल-गुण संबंधी होते हैं। और कुछ व्रण उत्तर-गुण संबंधी होते हैं। ये व्रण अतिचार दोष से बनते हैं। कोई छोटे, कोई बड़े और कोई गहरे, कोई छितरे। उन सब दोषों की शल्य चिकित्सा होती है प्रायश्चित्त से। इन सातों के लिए प्रायश्चित्त देने का विधान है।

आठवें व्रण के लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं है। उसे मिटाया जाता है, समाप्त किया जाता है। प्रायश्चित्त का यह विधान निम्नानुसार है—

अतिचार सेवन	**चिकित्सा विधि**
1. भिक्षा संबंधी दोष	— गुरू के सामने आलोचना।
2. अविधि परिष्ठापन	— मिच्छामि दुक्कड़ं।
3. आहार आदि में राग-द्वेष	— उभय-चिकित्सा (दोनों दंड)
4. अशुद्ध- आहार	— विवेक-परिष्ठापन करना।
5. दुस्वप्न देखना	— सौ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग।
6. हिंसामय आचरण	— लघु-तप तथा विगय वर्जन।
7. महाव्रत-विराधना	— तप और छेद।
8. पूर्ण संयम विराधना	— नई दीक्षा।

कायोत्सर्ग : मीमांसाबोध

- अतिचार शुद्ध्यर्थं कायस्य व्युत्सर्जने—
- आत्मदोषों की शुद्धि के लिए शरीर का विसर्जन करना।
- काय ममत्व वर्जने—
- शरीर-गत ममता का परित्याग करना कायोत्सर्ग है।
- धर्म कायातिचार व्रण शोधने —
- धर्म शरीर में हुए व्रणों, घावों का शोधन एवं चिकित्सा कायोत्सर्ग है।

कायोत्सर्ग के एकार्थक नाम—

1. उत्सर्ग, 2. व्युत्सर्जना, 3. उज्झना, 4. अवकिरण, 5. छर्दना, 6. विवेक, 7. सर्जना, 8. तर्जना, 9. उन्मोचना।

यों तो कायोत्सर्ग के अनेक प्रकार होते हैं, परंतु यदि हम उन्हें संक्षिप्त करना चाहें तो दो प्रकार में सबका समावेश हो जाता है। चेष्टा-कायोत्सर्ग और अभिभव-कायोत्सर्ग।

1. चेष्टा कायोत्सर्ग—किसी भी दैनिक चर्या में हुई विराधना के लिए चेष्टा कायोत्सर्ग रूप प्रायश्चित्त का विधान है। गोचरी, प्रतिलेखना, प्रतिक्रमण, दुस्वप्न आदि।

2. अभिभव कायोत्सर्ग—यह कायोत्सर्ग मुख्य दो प्रसंगों पर किया जाता है। ऐसे आत्मदोष, जो क्रोधादि कषाय के रूप में जीवन में वृद्धिंगत हैं, परिव्याप्त हैं। उन दोषों को घटाने, मिटाने तथा कोई विपत्ति का प्रसंग आ गया है—उस समय कायोत्सर्ग में स्थित हो जाएं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कायोत्सर्ग आत्मशुद्धि एवं आत्म-शक्ति संवर्धन इन दोनों में प्रबलतम निमित्त है। इसी के सहारे साधक उपसर्ग एवं भयोत्पादक प्रसंगों में विजय पा लेता है।

यह कायोत्सर्ग-विधि साधक को आत्ममुक्ति, भयमुक्ति, मोहमुक्ति, कषायमुक्ति तथा रोगमुक्ति जैसी कई मुक्तियों तक सीधे, साफ रास्ते से पहुंचाने वाली है। हम रोज जो कायोत्सर्ग करते हैं वह चेष्टा कायोत्सर्ग है। बाहुबलि ने जो कायोत्सर्ग किया वह 'अभिभव कायोत्सर्ग' है। बाहुबलि के कैवल्य प्राप्ति में अहं कृत जो अवरोध था, उसे इसी साधना से दूर किया था। अभिभव कायोत्सर्ग का कम से कम समय पचास मिनट का है और लंबा समय एक वर्ष प्रमाण। बाहुबलि ने प्रलंब कायोत्सर्ग करके अंतिम प्रकाश को पाया।

कैसे करें कायोत्सर्ग?

कायोत्सर्ग के फिर दो प्रकार बनते हैं—द्रव्य कायोत्सर्ग और भाव कायोत्सर्ग। द्रव्य-कायोत्सर्ग से तात्पर्य है मानसिक स्थिरता के बिना किया गया कायोत्सर्ग। जैसे कोई खड़ा-खड़ा कायोत्सर्ग कर रहा है, परंतु वह मन से अशुभ ध्यान में है। एक दूसरा साधक बैठा-बैठा कायोत्सर्ग कर रहा है, परंतु मन से खड़ा है, एकाग्रता, स्थिरता और पवित्रता के शिखर पर है। इस दृष्टि से कायोत्सर्ग के नौ प्रकार किए हैं—

1. उत्सृत–उत्सृत—शरीर और मन दोनों से जो खड़ा है। 2. उत्सृत—जो केवल शरीर से खड़ा है। 3. उत्सृत निषण्ण—शरीर से बैठा है, किंतु भाव से खड़ा है। 4. निषण्ण उत्सृत—भावों से बैठा है, किंतु शरीर से खड़ा है। 5. निषण्ण—शरीर से बैठा। 6. निषण्ण-निषण्ण—शरीर से बैठा है और भाव से भी बैठा है। 7. निवण्ण उत्सृत—शरीर से सोया है भाव से खड़ा है। 8. निवण्ण—शरीर से सोया है। 9. निवण्ण-निवण्ण— दोनों से सोया है।

कहां करें कायोत्सर्ग?

संवरिया सवदारे, अव्वावाहे अंकटए देसे।
काऊण थिरं झाणं, ठियो, निसण्णो, निवण्णेय।।

सब प्रकार के आश्रव द्वार—कर्मबंध के कारणों को बंद करके जहां कोई स्थूल बाधा नहीं हो—वहां ध्यान करें। वह प्रदेश कम से कम अकंटक अवश्य होना चाहिए। कायोत्सर्ग जहां-कहीं भी किया जा सकता है, परंतु अधिक सम्मत यही है कि उपाश्रय, जंगल, गुफा, पहाड़ पर किया जाए।

राजा श्रेणिक को सम्यक्त्व की परीक्षा में कुंडल और हार देव द्वारा उपहृत किए गए थे। नंदा (अभय माता) को कुंडल दिए, परंतु वह यह जानकर नाराज हो गई कि हार चेलना को क्यों? वह तो मुझे ही मिलना चाहिए था। इधर महारानी ने सोचा, ये दोनों ही आभूषण मुझे मिलने चाहिए थे। उसने अपना अपमान समझ कर मरना ठान लिया। आखिर उसने सोचा, पांच रानियों में मैं एक मर गई तो महाराज के क्या फर्क पड़ेगा! मेरी दुर्गति अवश्य हो जाएगी। संयोग की बात। वह हार एक बंदर उठाकर ले गया। हार के खोने पर राज्य में घोषणा हुई—जो भी हार ले गया है अथवा किसी को मिला है—वह तुरंत लौटा दे। जब हार नहीं मिला तब महाराज श्रेणिक ने अभयकुमार से कहा—सात दिन के भीतर-भीतर हार आ जाना चाहिए। खोज प्रारंभ हुई। अंतिम दिन आ गया। हार नहीं मिला। अभयकुमार ने सोचा, आज की रात पौषधशाला में धम्म जागरणा करते हुए मुझे बितानी है। संभव है देव गुरू धर्म के प्रभाव से कोई रास्ता मिल जाए। नहीं तो कठिनाई है। और कुछ नहीं तो आर्तध्यान से अवश्य बचाव होगा।

अभयकुमार ने कायोत्सर्ग किया। उस उपाश्रय में चार मुनि थे। उन्होंने भी एक-एक प्रहर कायोत्सर्ग किया। अभयकुमार जब मुनियों का भय निवारण करने बाहर गए तो देखा कि श्रमण के गले में हार है। अब बात स्पष्ट हो गई कि श्रमण बाहर से भीतर लाते हैं—यह करते हुए कि 'महाभयं महाभयं।' अभयकुमार का संकट कायोत्सर्ग साधना के प्रभाव से गया।

कायोत्सर्ग विधि—कायोत्सर्ग खड़े, बैठे या सोए तीनों अवस्थाओं में किया जा सकता है। भगवान महावीर खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करते थे। कायोत्सर्ग में साधक शरीर के खोल से आत्मा को अलग देखने की चेष्टा करता है। इस प्रयोग को अनेक बार करते-करते हमारा आभामंडल संरक्षित, कवचित हो जाता है। यही कारण है 'बुलेट प्रूफ' जाकेट पहनने के बाद जैसे गोली प्रभावित नहीं करती, वैसे ही कायोत्सर्ग में प्रवेश करने के बाद न मच्छर सताते हैं और न सांप, बिच्छू। न देव-यक्ष सताते हैं और न कोई आतताई। फिर न किसी के कटु वचन सताते हैं और न शेर-सिंह-जनित उपद्रव। जब साधक चारों ओर से सुरक्षित हो जाता है तब भीतर बैठा-बैठा मौज मनाता है। वर्तमान चिकित्सा में शवासन, योगनिद्रा जैसी विधियों का समावेश इस बात को प्रमाणित करता है—व्यक्ति जप, तप और ध्यान से स्वस्थ रह सकता है। कायोत्सर्ग स्वयं तप है। इसका निर्जरा के वास्तु भेदों में अंतिम नंबर है। तपस्या उपवास से प्रारंभ होती है और कायोत्सर्ग व्युत्सर्ग में संपन्न। व्युत्सर्ग का अर्थ है छोड़ना। व्युत्सर्ग के मुख्य दो प्रकार हैं—द्रव्य व्युत्सर्ग और भाव व्युत्सर्ग। द्रव्य व्युत्सर्ग के मुख्य भेद निम्नानुसार हैं—बाहरी त्याग—1. शरीर व्युत्सर्ग 2. गण व्युत्सर्ग, 3. उपधि व्युत्सर्ग, 4. भक्त पान व्युत्सर्ग। इसी प्रकार भाव व्युत्सर्ग—भीतरी त्याग के भेद इस प्रकार हैं—1. कषाय व्युत्सर्ग, 2. भव व्युत्सर्ग, 3. कर्म व्युत्सर्ग।

तनाव और कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग क्यों? इसका सीधा सा उत्तर है—दुख-मुक्ति के लिए। जैन आगमों में एक स्थान पर लिखा है—कायोत्सर्ग से अस्थि, मांस और रोमकूपों को सुख प्राप्त होता है। शरीर की मांसपेशियों को आराम मिलता है। शरीर शिथिल होते ही विचार शांत होने लगते हैं। विचार-शांति का फलित है—चैतन्य का अनुभव, भेद विज्ञान की अनुभूति।

कायोत्सर्ग से जैसे शरीर का भार घटता है, वैसे ही मस्तिष्क का भार भी घटता है। खाली होना सुख है, भरे रहना दुख है। यह सुख मिलता है कायोत्सर्ग से। हमारी समझदारी इसी में है, हम तनाव को जन्म ही नहीं दें। तनाव होता है—अधिक चिंतन और भीड़ में सदा रहना, अधिक थकान और अनियमित दिनचर्या, अधिक आकांक्षा और मानदंडों का दबाव, अधिक दायित्व और आर्थिक कठिनाई, सामंजस्य की कमी और नैतिक मूल्यों का पतन, अस्वास्थ्य और अनिद्रा रोग से।

तनाव से होने वाली हानियां

पाचन मंद या बंद, धड़कन तेज, रक्तचाप तेज या मंद, सिर दर्द, लालास्राव मंद या बंद, विचारों की व्यग्रता, भोजन में अरुचि, एकाग्रता की कमी, अकारण तेज उत्तेजना, स्मृति का ह्रास, भुलक्कड़ स्वभाव, छोटा श्वास, अनिद्रा-सुस्ती, पागलपन।

कायोत्सर्ग के महत्त्वपूर्ण लाभ

शरीर और मन का भार घटता है। धमनियों का दबाव घटता है। तंत्रिकाओं को विश्राम मिलता है। मस्तिष्क विद्युत का संतुलन रहता है। सूक्ष्म शरीर का अनुभव होता है। आभामंडल का अनुभव होता है। मन का अनुशासन जागता है। बुद्धि और हृदय का संतुलन होता है। कार्मण शरीर प्रकंपित होता है। ऊर्जा क्षय से बचाव होता है। चेतना भीतर लौटना सीखती है। जीने की वासना छूटती है। मृत्यु का साक्षात् अनुभव होता है। ❖

> वर्तमान विज्ञान और अस्तव्यस्त जीवन-शैली ने मानव को स्वाध्याय-विमुख बना दिया है। उसे धार्मिक साहित्य पढ़ने का न समय है, न रुचि है। स्वाध्यायी व्यक्ति नित नए साहित्य की खोज में रहता है। ज्ञात होता है कि स्वतंत्रता से पहले देश के किसी भी कोने में कोई अच्छी पुस्तक प्रकाशित होती तो वह कुछ ही दिनों में सब जगह उपलब्ध हो जाती थी। आज स्वाध्यायशीलता के अभाव में वह स्थिति बदल गई है। आज भी लेखकों और प्रकाशकों की कमी नहीं है, कमी है पाठकों की और साहित्य-सेवियों की। व्यक्तिगत रूप से साहित्य रखने वाले और पढ़ने वाले लोग बहुत कम हैं।

जन धर्म के अभिप्राय

❑ साध्वी कनकश्री ❑

यह बार-बार दुहराया जाता है कि जैन धर्म में विश्व धर्म बनने की क्षमता है। शांतिपूर्ण सहअस्तित्व, सामंजस्य, स्वतंत्रता, समानता और अहिंसा तत्त्वों का मूलस्रोत जैन धर्म ही है। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के शब्दों में—'भारतीय राजनीति का संचालन जैन धर्म के इन्हीं सूत्रों के आधार पर हो रहा है।'—बात भी सही है। यह भी माना जाता है कि जैन धर्म कोई संप्रदाय नहीं है, मजहब नहीं है, वह विशुद्ध आध्यात्मिक धर्म है। जीवन और जगत की समस्याओं का समाधान देने वाला एक वैज्ञानिक धर्म है। समाज में नैतिक, चारित्रिक और आध्यात्मिक जीवन-मूल्यों को स्थापित करने वाला जन धर्म है। तब यह प्रश्न उठता है कि इतना उत्कृष्ट धर्म होते हुए भी जैन धर्म व्यापक क्यों नहीं हो सका? विश्वव्यापी बनना तो दूर, जिस धरती पर जन्मा, फला-फूला और फैला, उस धरती पर भी एक वर्ग विशेष या क्षेत्र विशेष का बनकर रह गया। इसका एक बहुत बड़ा कारण यह माना जा सकता है कि जैन धर्म का प्रचार तंत्र कभी सशक्त नहीं रहा। उसका प्रचार-प्रसार अधिकतर मुनिवृंदों पर ही आधारित रहा। जैन मुनि पदयात्रा द्वारा सुदूर प्रदेशों में जाते, तपोयोग और ध्यानयोग की धूनी रमाते, वे लोकभाषा में बोलते और जन चेतना को अध्यात्म की दिशा में प्रेरित करते। इस प्रकार जैन धर्म और दर्शन के साथ जन-भावना जुड़ती रहती। किंतु गृहस्थ अनुयाइयों द्वारा इस दिशा में विशेष सार्थक प्रयास नहीं हुआ।

जैन समाज की शैक्षिक भूमिका

धर्म प्रचार के सशक्त माध्यम हैं शिक्षा और साहित्य। जैन समाज में ये दोनों ही तत्त्व दीर्घकाल तक अपेक्षाकृत गौण ही रहे। जैन समाज समर्थ समाज है, आर्थिक दृष्टि से संपन्न है, पर जैन विद्या के प्रचार-प्रसार में उसकी भूमिका अपेक्षाकृत संतोषजनक नहीं रही। अपने धर्म और संस्कृति को व्यापक बनाने हेतु जिस प्रकार के प्रयास अपेक्षित होते हैं—उसका लंबे समय तक अभाव रहा। उच्चस्तरीय शिक्षा, सुविधापूर्ण व्यवस्था और अंग्रेजी माध्यम से संचालित विद्यालयों में पढ़ने वाले बच्चों में पढ़ाई के साथ जो संस्कार सहजता से पनपाए जा सकते हैं—वैसी कमी बनी रही।

इस संदर्भ में चिंतनीय बिंदु यह है कि पूरे देश में जैन दर्शन या जैन विद्या संस्थान कितने हैं? जैनों द्वारा निर्मित स्कूल-कॉलेजों में भी जैन विद्या पाठ्यक्रम का कोई समावेश नहीं है। छात्रों को जैन धर्म, दर्शन, इतिहास और संस्कृति का बोध कहां कराया जाता है? हां, छोटी-मोटी जैन शालाएं जरूर चलती हैं, पर उनमें भी विद्यार्थियों को जैन धर्म की प्राथमिक जानकारी के साथ अपने-अपने संप्रदायों की पूजा-उपासना की विधियां ही सिखाई जाती हैं। वह प्राथमिक प्रशिक्षण भी यदि जैन विद्वानों के निर्माण में आधारशिला बनता हो तो यह बहुत बड़ी उपलब्धि मानी जा सकती है, पर इस दिशा में समाज की उदासीनता ही परिलक्षित होती है।

कुछ विश्वविद्यालयों में जैन दर्शन के स्वतंत्र विभाग जरूर हैं, जिनके माध्यम से जैन विद्वान तैयार हो रहे हैं, पर उनकी गति धीमी है। आज अपेक्षा है, जैन दर्शन के ऐसे गंभीर अध्येताओं और विद्वानों की, जो देश-विदेश में जैन धर्म और दर्शन का आलोक बिखेर सकें। यह काम विश्वविद्यालयों के माध्यम से ही हो सकता है, पर दुर्भाग्य से देश में कोई विश्व-विद्यालय पूरी सक्षमता से यह कार्य नहीं कर पा रहा है।

बीसवीं सदी के अंतिम दशक में एकमात्र जैन विश्वविद्यालय उभरा—'जैन विश्वभारती संस्थान' के नाम से। इसके प्रेरणास्रोत हैं—युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी। यह संस्थान एक आशा की किरण अवश्य है, और संभावना की जाती है कि यह विश्वविद्यालय जैन विद्वानों के निर्माण के साथ-साथ न केवल जैन तत्त्वविद्या, अपितु समस्त प्राचीन-अर्वाचीन भारतीय विद्या-शाखाओं के अध्ययन-अनुशीलन का एक अनूठा संस्थान बनेगा। इस संस्थान के मुख्य आकर्षण हैं—जैन दर्शन का विभिन्न भारतीय दर्शनों एवं पाश्चात्य दर्शनों के साथ तुलनात्मक अध्ययन-अनुसंधान तथा विश्वशांति, अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकांत पर शोध तथा प्रायोगिक प्रशिक्षण।

जैन विश्वभारती द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर जैन विद्या परीक्षाओं तथा पत्राचार पाठमाला (जैन दर्शन स्नातक) का आयोजन एवं तेरापंथी महासभा द्वारा जगह-जगह ज्ञान शालाओं का संचालन एक सशक्त पृष्ठभूमि का काम कर सकता है। पर अपेक्षा है, समाज की शक्ति और साधन-सामग्री का उस दिशा में पर्याप्त नियोजन हो।

सत्साहित्य की मूल्य-प्रतिष्ठा

दूसरी बात है साहित्य की। जैन समाज मुख्यतः व्यावसायिक समाज है। उसमें उच्च शिक्षा प्राप्त प्रतिभाओं की भी कमी नहीं है। पर उनकी क्षमता, प्रतिभा और वर्चस्व का प्रभाव औद्योगिक/व्यावसायिक क्षेत्रों तक ही सीमित है। गंभीर धार्मिक, आध्यात्मिक ग्रंथों के स्वाध्याय की प्रवृत्ति कम है, न ही उसके प्रचार-प्रसार का कोई अभिक्रम है, गहन अनुसंधान की बात तो दूर, सामान्य साहित्य के प्रति भी अपेक्षतया रुचि प्रतीत नहीं होती।

सामान्य साहित्य के मुख्यतः तीन अंग माने जा सकते हैं—

* **सत्साहित्य**—जो समाज को उन्नयन की दिशा में ले जाए, संस्कार जगाए तथा जो मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियों को अनुशासित/नियंत्रित कर उसे श्रेष्ठ मनुष्य बनने की प्रेरणा दे सके। प्राचीन वाङ्मय तथा सभी प्रकार का सत्साहित्य इसी श्रेणी में आता है।

* **सामाजिक साहित्य**—जो समाज के यथार्थ का चित्रण कर समाज में व्याप्त मूल्यहीनता के तमस को मिटाने के लिए दीपस्तंभ का काम करे। यह साहित्य समाज का सही प्रतिबिंब होता है, संवेदनशील समस्याओं का समाधान करता है और मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करता है।

* **मनोरंजक साहित्य**—वह साहित्य जो विशेषरूप से मानवीय दुर्बलताओं को उजागर कर जन-मानस को मनोरंजन दे। इसके अंतर्गत चलचित्र और दूरदर्शन के कार्यक्रम आते हैं। समाज के लिए वह साहित्य उपादेय हो सकता है, जो सात्त्विक मनोरंजन द्वारा मनोरचना का दायित्व भी निभाए, किंतु वर्तमान में सिनेमा और दूरदर्शन इतने व्यावसायिक हो गए हैं कि वे सस्ती मनोरंजन-सामग्री परोसकर दर्शकों को आकर्षित जरूर कर रहे हैं, पर साथ-साथ में विकृत मानसिकता को जन्म देकर सामाजिक स्वास्थ्य को चौपट भी कर रहे हैं।

इस औद्योगिक/व्यावसायिक संस्कृति के विकास का ही परिणाम है कि आज व्यक्ति के भीतर की संवेदनशीलता, सहृदयता, करुणा, कोमलता आदि तत्त्व समाप्त हो रहे हैं। अतः अपेक्षा है—समाज में सत्साहित्य के स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढ़े।

किसी भी राष्ट्र और समाज को सफल/सशक्त बनाने के लिए अपेक्षित है संस्कारजन्य श्रेष्ठ साहित्य का सृजन एवं पठन-पाठन हो। मनुष्य को मनुष्यता का बोध कराने वाला तत्त्व धर्म है। धर्म सर्वस्पर्शी होता है, इसलिए धार्मिक साहित्य भी सर्वसमावेशी होता है। सामाजिक मूल्य और मनोरंजन के माध्यम निरंतर बदलते रहते हैं, इसलिए उन मूल्यों को प्रस्तुति देने वाला साहित्य भी समाज में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। कुछ समय के बाद उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। धर्म में लोक मंगल की भावना निहित होती है। धार्मिक साहित्य चाहे किसी भी देश-काल में लिखा गया हो, वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक होता है। वह शाश्वत सत्य को अभिव्यक्ति देता है, इसलिए धार्मिक साहित्य सदा जीवंत/प्राणवंत रहता है।

वर्तमान विज्ञान और अस्तव्यस्त जीवन-शैली ने मानव को स्वाध्याय-विमुख बना दिया है। उसे धार्मिक साहित्य पढ़ने का न समय है, न रुचि है। स्वाध्यायी व्यक्ति नित नए साहित्य की खोज में रहता है। ज्ञात होता है कि स्वतंत्रता से पहले देश के किसी भी कोने में कोई अच्छी पुस्तक प्रकाशित होती तो वह कुछ ही दिनों में सब जगह उपलब्ध हो जाती थी। आज स्वाध्यायशीलता के अभाव में वह स्थिति बदल गई है। आज भी लेखकों और प्रकाशकों की कमी नहीं है, कमी है पाठकों की और साहित्य-सेवियों की। व्यक्तिगत रूप से साहित्य रखने वाले और पढ़ने वाले लोग बहुत कम हैं। जहां लोगों की स्तरीय साहित्य पढ़ने की रुचि होती है, वहां विक्रय-व्यवस्था के अभाव में उन्हें उपलब्ध नहीं होता। यही कारण है, आज साहित्य या तो पुस्तकालयों तक ही सीमित हो गया है या सरकारी संस्थानों और प्रकाशकों की गोदामों में पड़ा दीमक का भोजन बन रहा है।

यह बहुत बड़ी त्रासदी है। व्यक्ति का अक्षर से कटना उसके क्षरित होने जैसा है। मनुष्य की विकासयात्रा के पड़ावों की पड़ताल करने वाले महान वैज्ञानिक डार्विन ने कहा था—मनुष्य अपने शरीर के साथ-साथ मन से भी जीवित रहे इसके लिए साहित्य को बचाना अनिवार्य है। क्योंकि औद्योगिक विकास के धुएं में हमारे सिर पर का आसमान कितना ही प्रदूषित क्यों न हो जाए, विज्ञान की ऊंचाइयों के सामने मनुष्य का व्यक्तित्व कितना ही बौना क्यों न हो जाए, फिर भी उसे अच्छा और ऊंचा जीवन जीने के लिए सत्साहित्य की आवश्यकता सदा रहेगी।

इसके लिए कुछ ऐसे उपक्रम करने होंगे जो जन-सामान्य की साहित्यिक अभिरुचि को बढ़ाए और साहित्य-सामग्री उपलब्ध भी कराएं। इस तरह का एक प्रयास उल्लेखनीय है। सन् 1987 में महानगर मुंबई के समुद्रतट पर एक अद्भुत जहाज उतरा। उसे तैरता हुआ किताबघर कहा जा सकता है। बहुत ही रोचक और प्रेरक है उसकी कहानी।

इस जहाज पर 30 देशों के 320 लोग धर्म प्रचार के लिए निकले थे। इसका संक्षिप्त परिचय यह है कि प्रेमभाव के साथ सब की सेवा करने के उद्देश्य से जर्मनी का एक जहाज 'डाओलोस' (यूनानी शब्द—जिसका अर्थ है सेवक) एक देश से दूसरे देश में घूम रहा है। इस जहाज की मालिक है जर्मनी की एक कंपनी—'ग्यूटर बूचर फर एले ई. वी.।' इसका अर्थ है—सबके लिए अच्छी पुस्तकें। यह जहाज किताबों की तैरती हुई विशाल दूकान है। इसमें चार हजार से अधिक शीर्षकों वाली लगभग पांच लाख पुस्तकें हैं। वे शिक्षा, चिकित्सा, यात्रा वृत्तांत, उपन्यास, यांत्रिकी, खेल जगत, पाक-विज्ञान, पारिवारिक जीवन आदि विभिन्न विषयों से संबंधित हैं। फिर भी इन पुस्तकों में जो सर्वाधिक बिक्री वाली पुस्तक है, वह है 'बाईबल'। क्योंकि यह जहाज अधिकांश उन्हीं देशों में जाता है, जो ईसाईबहुल देश हैं। जहाज में बाल साहित्य का भी एक विभाग है, जो मुख्यतः बाईबल पर आधारित कहानियों वाला है।

इस जहाज की संयोजिका थी एमीलान नाम की महिला। उसने बताया कि इस पुस्तक-प्रदर्शनी का उद्देश्य है, विकासशील देशों के लोगों तक सुरुचिपूर्ण पुस्तकें पहुंचाना और धर्म का प्रचार करना।

उस समय मुंबई के पश्चात् यह जहाज भारतीय समुद्री तटों के साथ-साथ यात्रा करता हुआ मेंगलोर तथा कोचीन में पड़ाव डालता हुआ थाईलैंड तथा विशाखापट्टनम् होते हुए चेन्नई भी पहुंचा था। आयोजकों से प्राप्त जानकारी के अनुसार प्रतिदिन दो हजार व्यक्ति इस जलीय पुस्तक-प्रदर्शनी को देखने आते थे। कहीं-कहीं तो आगंतुकों की संख्या नौ-नौ हजार तक हो जाया करती थी।

जैसा कि ज्ञात हुआ कि यह जहाज प्रतिवर्ष दस देशों की यात्रा करता है, बीस बंदरगाहों पर लंगर डालता है और लगभग एक लाख अस्सी हजार कि.मी. की यात्रा तय करता है। उस समय चालक दल के तीस सदस्यों समेत 'डाओलोस' पुस्तक-प्रदर्शनी जहाज के सदस्यों की कुल संख्या 320 थी। वे सब तीस देशों से आए हुए थे। आश्चर्य की बात तो यह है कि जहाज के कप्तान से लेकर मध्यम श्रेणी के कर्मचारी तक पूरा स्टाफ स्वयंसेवी था। इस जहाज में सेवा की अवधि दो वर्ष है। कुछ व्यक्ति तो इस पवित्र सेवाकार्य के लिए अपनी ऊंची नौकरी और पद छोड़कर भी आते हैं। जिस समय यह जहाज भारत आया था, उस समय जहाज में पंद्रह परिवार तथा अठारह से पैंतीस वर्ष आयु वर्ग के स्त्री-पुरुषों के अतिरिक्त सत्तर (70) बच्चे भी थे। उनके लिए एक स्कूल और अध्यापक की व्यवस्था भी थी। इस प्रकार देश-विदेशों में पहुंचकर यह जहाज अनोखे तरीके से साहित्य-सेवा करता हुआ धर्म प्रचार कर रहा है। इक्कीसवीं सदी के निकट आने के साथ ही यह जहाज भी अधिक सक्रिय होने की तैयारी में था। बताते हैं, डाओलोस जहाज की तरह कुछ अन्य जहाज भी इसी भांति धर्म प्रचार के लिए परिभ्रमण कर रहे हैं।

प्रश्न होता है, जैन दर्शन और जैन साहित्य के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए भी कभी किसी ने ऐसा सोचा है? कभी-कभार पुस्तक-मेलों का आयोजन कर लेना, किसी विशेष समारोह में पुस्तक-प्रदर्शनी लगा लेना या जैन पत्र-पत्रिकाओं की प्रतियोगिता समायोजित कर लेना ही पर्याप्त नहीं है। यह काम तब संभव हो सकता है, जब कुछ जीवनदानी कार्यकर्ता धूनी रमाएं और नेतृवर्ग का सहयोग-प्रोत्साहन मिलता रहे।

गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी तथा आचार्यश्री महाप्रज्ञ द्वारा प्रस्तुत/संपादित आगम-साहित्य और दर्शन साहित्य, अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन विज्ञान से संबंधित इतना दुर्लभ साहित्य तेरापंथ के पास है कि वह सरहदों के पार भी बहुत चाव से पढ़ा जा सकता है। यदि जनता को वह साहित्य सुगमता से उपलब्ध हो सके या उपलब्ध कराया जाए तो आज के वैज्ञानिक युग में उसकी अभूतपूर्व मूल्य-प्रतिष्ठा हो सकती है।

यही वह उपक्रम है जो जैन धर्म को विश्व धर्म या जन धर्म के रूप में नई पहचान दे सकता है। ❖

"इस मंत्र में बड़ा ओज है। जितेन्द्र, जब कभी परेशान होता हूं, दुखी होता हूं, तो मैं बार-बार इस वाक्य को दोहराने लगता हूं और मेरे अंदर स्फूर्ति और विश्वास और शक्ति जैसे भरने लगते हैं। मुझे लगता है, जैसे मेरा व्यक्तित्व फैल रहा है, और मैं जैसे ऊपर उठता चला जा रहा हूं, मैं स्वयं को सारे ब्रह्मांड का अंग महसूस करने लगता हूं। लगता है, चांद-सितारों और सहस्रों घूमते नक्षत्रों का मैं केंद्र हूं..."

कहानी

अहं ब्रह्मास्मि

❑ भीष्म साहनी ❑

जाड़े की छुट्टियों में हम कभी-कभी सुबह-सवेरे लंबी सैर को निकल जाया करते। शहर की तंग गलियों में से निकलकर, नदी का पुल पार करते, जो शहर को कैण्टोन्मेण्ट से अलग करता था; फिर पुल पार करके या तो सीधे मलिका विक्टोरिया के बुत की ओर मुंह कर लेते, या बाईं ओर को घूम जाते और दो-तीन मील का फासला तय करके पेड़ों के उस घने झुरमुट में जा पहुंचते, जहां अंग्रेज लोग गॉल्फ खेला करते थे, या घुड़-सवारी करने आया करते थे, या फिर अपनी प्रेमिकाओं की बगल में हाथ डाले चहलकदमी किया करते थे। शहर की घुटन-भरी गलियों के बाद इन सड़कों पर घूमना बड़ा अच्छा लगता। आठ-दस मील का लंबा चक्कर काट चुकने के बाद हम कैण्टोन्मेण्ट में ही भाटिया के घर जा पहुंचते। यह सैर के कार्यक्रम का अभिन्न अंग हुआ करता था। सैर की मीठी-मीठी थकान के बाद जब जूतों पर धूल की परत होती और पलकें भारी हो रही होतीं और बदन सुस्त हो रहा होता, भाटिया के साफ-सुथरे, करीने से सजे-सजाए फ्लैट में नाश्ता करने का अपना मजा था। फिर मन चाहा, तो दोपहर तक वहीं पड़े रहे, और सिनेमा देखकर शाम को घर लौटे, या अगर देखा कि भाटिया बहुत व्यस्त है, तो थोड़ी देर गप-शप करने के बाद शहर की ओर चल दिए।

भाटिया मुझे तो बच्चा समझता था, लेकिन जितेन्द्र का अच्छा दोस्त था। और जितेन्द्र मेरा संबंधी था और मुझसे वर्षों बड़ा था, लेकिन घूमने-फिरने में हम एक-दूसरे के साथी थे।

●●

उस रोज भी ग्यारह बजते-बजते हम भाटिया के घर जा पहुंचे। भाटिया किताबों की दूकान करता था और दूकान के पीछे ही दो-तीन कमरों में रहता था। सफेद वर्दी और लाल कमरबंद पहने एक खानसामे ने दरवाजा खोला और बड़े अदब से सलाम किया। वास्तव में, वह भाटिया की दूकान का कारिंदा था, लेकिन सुबह के वक्त रसोइए का हाथ बंटाने के लिए चला आया करता था और आते ही खानसामे की वर्दी पहन लिया करता था।

'आओ जितेन्द्र, आओ',—अंदर से भाटिया की आवाज आई।

ड्राइंग रूम चमचमा रहा था और सोफे पर बैठा भाटिया हाथ बढ़ाए हमारा स्वागत कर रहा था। मैं अंदर घुसा, तो भाटिया ने उड़ती नजर से मेरे गर्द-भरे जूतों की ओर देखा, जिससे मैं खिसिया गया। पर भाटिया अपनी बत्तीसी दिखाते हुए बोला, 'कोई बात नहीं, जब तक तुम अपने जूते मेरी मेज पर नहीं रख देते, मुझे कोई एतराज नहीं।'

भाटिया अंग्रेजी की किताबें बेचता था और कैण्टोन्मेण्ट में रहता था, जहां अंग्रेज बसते थे और सड़कों पर गोरे फौजी घूमते थे; इस कारण उसकी वजह-कतह अंग्रेजों-जैसी हो गई थी। यों भी अंग्रेजी की किताबें बेचने वाला दूकानदार आम दूकानदारों से इस बात में अलग होता है कि उसमें अपने-आप ही बुद्धिजीवी का पोज आ जाता है। वह नए-नए लेखकों का नाम जानता है, तरह-तरह के विषयों पर बात कर सकता है। भाटिया सांवले रंग का कुछ-कुछ कुरूप-सा आदमी था, लेकिन उसकी भाव-भंगिमा में

एक अजीब चुस्ती थी। झट से घूम जाता, इस ढंग से मुस्कराकर बात करता कि पूरी बत्तीसी झलक जाती। अंग्रेज ग्राहकों के सामने अजीब टेढ़े-से ढंग से झुकता, झट से पैंतरा बदल लेता, पलक मारते दस-दस किताबें उनके सामने रख देता और इस ढंग से किताबों की बात करता कि लगता, उसने 'लायब्रेरियां' पढ़ रखी हैं। यों भी उसकी रुचियों में बौद्धिकता का पुट रहता था। उन दिनों वह अध्यात्म की बहुत बात किया करता था और वेदांत में भी उसे दिलचस्पी थी, क्योंकि उन्हीं दिनों आल्डुअस हक्सले की किताबें छपकर आई थीं, जिनमें भारतीय दर्शन की बड़ी प्रशंसा की गई थी।

थोड़ी देर तक सोफों पर बैठने के बाद भाटिया ने हमें, हस्ब-मामूल, खाने वाले कमरे की ओर चलने को कहा। लगता था, वह पहले से हमारी राह देख रहा था।

दहलीज के पास वह आदत के मुताबिक तकल्लुफ से रुका, पूरी बत्तीसी के साथ मुस्कराया और जितेन्द्र को अंदर चलने का आग्रह करने लगा, 'पहले तुम, जितेन्द्र, ब्यूटी बिफोर द बीस्ट!'

यह उसका तकियाकलाम था। यों उसके इस वाक्य में थोड़ी सचाई भी थी, क्योंकि उसके मुकाबले में जितेन्द्र को सुंदर कहा जा सकता था। मुझे हमेशा ही भाटिया की मेज पर बैठते हुए झेंप लगती थी। मैं अक्सर भूल जाता कि छुरी किस हाथ में पकड़नी चाहिए और कांटा किस हाथ में!

भाटिया मेज के सिरे पर अपनी जगह बैठ गया और सर्वियेट उठाकर अपने गले से लटका लिया। सर्वियेट, उन दिनों, कमीज के ऊपर खोंस लेने का चलन था। सब अंग्रेज ऐसा ही करते थे। भाटिया के सामने चांदी के पात्र रखे गए, जबकि हमारे सामने बैरा साधारण चीनी के प्लेट और प्याले रख गया। यह भी भाटिया की सनक थी। वह हमेशा खाना चांदी के बर्तनों में खाता था, जबकि मेहमानों के सामने साधारण चीनी मिट्टी के पात्र रखे जाते।

बैरा लपक-लपककर नाश्ता परोसने लगा। दो उबले हुए आलू भाटिया ने चांदी के डोंगे में से उठाकर अपनी प्लेट में डाल लिए। फिर उन पर थोड़ा-सा मेयोनेज डाला, फिर चांदी की छुरी से उबले आलुओं के टुकड़े किए और कांटे-छुरी से उन्हें खाने लगा। भाटिया बहुत कम खाता था, नाप-तौलकर। गनीमत थी कि हमारे लिए, हमारी रुचि के अनुसार चीजें बनकर आईं, वरना इतनी लंबी सैर के बाद अगर हमें उबले आलू ही खाने थे, तो भाटिया के घर आने में क्या तुक थी?

●●

भाटिया की अंग्रेजियत का हम पूरा-पूरा लाभ उठाते। जाड़ों में उसके कमरे में अंगीठी जलती और उसके पास बैठे, रुचिकर पेय की चुस्कियां लेते हुए हम गप-शप करते। उसकी हर अदा अंग्रेजों-जैसी थी। इतवार के दिन वह सिगार पीता और कुत्ता लेकर घूमने जाता, और ऐसा कोट पहनकर जाता, जिसकी कोहनियों पर चमड़े के झब्बे लगे रहते थे। गर्मी के मौसम में वह दिन में चार बार अपनी कमीज और दस बार बनियान बदलता था, और दिन में तीन-तीन बार अपने बैरे को 'गुसल लगाओ!' का हुक्म देता था। इतनी सफाई के बावजूद, जब एक बार वह बीमार पड़ा और बेहोशी में बड़बड़ाया, तो अस्पताल की नर्स कानों पर हाथ रखे बाहर भाग आई थी, 'हे भगवान, मैं नहीं जानती थी कि एक अनब्याहा आदमी बेहोशी में ऐसी लचर बातें बोल सकता है!'

अब सोचता हूं, तो इस तरह के रहन-सहन और अंग्रेजियत का जरूर उसके मन पर बोझ-सा बना रहता होगा, क्योंकि जमाना बदल रहा था और इस तरह के लोग बदलते परिवेश में अटपटे-से नजर आने लगे थे और अंग्रेज ग्राहकों का रुख भी इनके प्रति, अन्य हिंदुस्तानियों के प्रति उनके रुख से बहुत भिन्न नहीं था। मेरे सामने एक दिन, जब मैं उसकी दूकान के अंदर खड़ा था, तो उसे एक अंग्रेज महिला बुरी तरह से फटकार गई थी, क्योंकि उसने उसे कोई पुराना बिल भेजा था और उस पर 'प्लीज पे' का छपा हुआ लेबल लगा दिया था। वह औरत उस लेबल को देखकर बौखला उठी थी और वह सारा वक्त 'यस, मैडम, यस मैडम' कहता रहा था। वहां मेरे मौजूद रहने के कारण वह और भी ज्यादा परेशान हुआ था, क्योंकि उस औरत के चले जाने के बाद कभी तो दबी आवाज में 'हॉरिबल वुमन!' कहता, कभी मुझे अपनी बत्तीसी दिखाते हुए अपनी भूल स्वीकार करता, 'वह ठीक ही कहती थी। बिल भेजने का मतलब ही यह होता है कि पेमेण्ट कर दो, उस पर अलग से लेबल लगाने का क्या तुक है!' उसे कोफ्त इस बात की थी कि काम करने एक ढंग होता है, अंग्रेजी ढंग; और उसमें वह चूक गया था।

उबले आलू खा चुकने के बाद, काली कॉफी की चुस्कियां लेते हुए भाटिया अध्यात्म की बातें करने लगा, 'जितेन्द्र, जानते हो, हक्सले ने 'अहं ब्रह्मास्मि' का अंग्रेजी में क्या अनुवाद किया है?'

'क्या अनुवाद किया है?'

'अनुवाद है, 'आइ एम द डिवाइन फ्लेम!' बहुत बढ़िया अनुवाद है, है ना?'

फिर भाटिया ने गहरी दबी आवाज में फिर से दोहराया, 'आइ एम द डिवाइन फ्लेम! सचमुच इस मंत्र में बड़ी शक्ति है। जब भी मैं इसे दोहराता हूं, तो हर बार लगता है, मेरे अंदर शक्ति का संचार हो रहा है।' फिर भाटिया ने बैठे-ही-बैठे दाएं हाथ की मुट्ठी भींचते हुए, और गहरी, ऊंची आवाज में इस मंत्र का उच्चारण किया, 'आइ एम द डिवाइन फ्लेम! अहं ब्रह्मास्मि!' अबकी बार उसकी आवाज में पहले से भी ज्यादा कंपन था। वह बार-बार इसे दोहराने लगा। हर बार 'आइ' पर पहले से ज्यादा जोर होता। हर बार उसकी आवाज और अधिक ऊंची उठ जाती। तीन-चार बार वाक्य दोहराने के बाद मुझे लगा, जैसे वह वजूद में आ गया है, आस-पास की दुनिया को भूल गया है। उसके चश्मे के पीछे उसकी आंखें भी ज्यादा गहराने लगी थीं, 'आइ एम द डिवाइन फ्लेम! फॉर, आइ एम द डिवाइन फ्लेम! अहं ब्रह्मास्मि!'

देर तक दोहराते रहने के बाद वह मस्ती में ही चुप हो गया, और चुपचाप आंखें बंद किए बैठा रहा। फिर धीरे-से उसने आंखें खोलीं, और फिर बंद मुट्ठियां भी खोल दीं।

'इस मंत्र में बड़ा ओज है। जितेन्द्र, जब कभी परेशान होता हूं, दुखी होता हूं, तो मैं बार-बार इस वाक्य को दोहराने लगता हूं और मेरे अंदर स्फूर्ति और विश्वास और शक्ति जैसे भरने लगते हैं। मुझे लगता है, जैसे मेरा व्यक्तित्व फैल रहा है, और मैं जैसे ऊपर उठता चला जा रहा हूं, मैं स्वयं को सारे ब्रह्मांड का अंग महसूस करने लगता हूं। लगता है, चांद-सितारों और सहस्रों घूमते नक्षत्रों का मैं केंद्र हूं...'

और भाटिया ने फिर धीमी गहरी आवाज में दो-तीन बार दोहराया, 'आइ एम द डिवाइन फ्लेम! आइ एम द...'

'अब केवल संस्कृत में कहकर देखो!' जितेन्द्र ने सुझाव दिया।

'संस्कृत में वह बात नहीं है। फ्लेम शब्द में बड़ी शक्ति का भास होता है। अहं ब्रह्मास्मि!' उसने उच्चारण किया, 'नहीं, वह बात नहीं है। फुसफुसा-सा लगता है। पर इस मन्त्र में बड़ी जान है। बड़ा ओज है। इसका उच्चारण करने से मन की सारी शिथिलता, सारा भय, सभी संशय, त्रास दूर हो जाते हैं। मैं विश्व की सत्ता का अंग बनने लगता हूं। मेरा अस्तित्व आकाश की ऊंचाइयां छूने लगता है।' फिर भाटिया जैसे झूमकर बोला, 'यह वह तंतु है, जिससे मैं भारत की आत्मा के साथ जुड़ जाता हूं। मैंने अपने लिए वह तंतु खोज निकाला है...मैं डिक के सामने विस्तार से इसकी व्याख्या करूंगा। उसकी भी इसमें बड़ी रुचि है।'

'डिक कौन?' मेरे मुंह से निकला।

'डिक! तुम डिक को नहीं जानते? तुम्हें शर्म आनी चाहिए।'

मैं झेंप गया। वास्तव में डिक, डिकी, डिकिन्सन सभी नाम एक ही व्यक्ति के थे, जो शहर का अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर था। हमारे सामने उसकी चर्चा करता, तो भाटिया हमेशा डिक अथवा डिकी कहकर बुलाता था, लेकिन डिप्टी कमिश्नर के सामने 'मिस्टर डिकिन्सन' ही कहा करता था।

'उसे भी भारतीय दर्शन में बड़ी रुचि है।' भाटिया ने कहा।

उन दिनों शायद हम सभी लोगों को ऐसे यूरोपीय लेखक पसंद थे, जो भारतीय संस्कृति और दर्शनशास्त्र की प्रशंसा करते थे। इससे हमारा हीन-भाव दूर होता था। जमाना बदल रहा था और नई स्थिति के साथ अपना संतुलन बनाए रखने के लिए हर कोई अपनी पहली जगह से थोड़ा-थोड़ा खिसक रहा था। कैण्टोन्मेण्ट के ही अनेक दूकानदार जहां अंग्रेज अफसरों को डालियां भेजते थे, वहां छिपे-लुके कांग्रेस को भी पैसे देने लगे थे। जितेन्द्र ऐसा पहनावा पहनने लगा था, जो दूर से देखने पर शुद्ध खादी का बना नजर आता था। भारत की प्राचीन संस्कृति पर गर्व का भास भी इसी प्रक्रिया का अंग था। भाटिया को भी शायद इसीलिए भारत की आत्मा के दर्शन होने लगे थे। यों वह अंग्रेजी हुकूमत को भारत के लिए वरदान मानता था और आए-दिन अंग्रेजों की इंसाफ पसंदी, उनके अनुशासन, उनकी जनतंत्रात्मकता की तारीफ के पुल बांधा करता था। पर क्या मालूम, वेदांत दर्शन से सचमुच ही उसकी कोई आंतरिक भूख, कोई आंतरिक छटपटाहट शांत होती हो!

तभी दूर कहीं से ढोल बजने की आवाज सुनाई दी। भाटिया के कान खड़े हो गए। यह ढोल कैण्टोन्मेण्ट में बज रहा था, इसी में इसकी भयावहता थी। उन दिनों आए दिन कांग्रेस के जलसे होते थे, और उनकी सूचना देने वाले स्वयंसेवक ढोल बजा-बजाकर गली-गली, मुहल्ले-मुहल्ले मुनादी किया करते थे। ढोल बजने की देर होती कि घरों की छतों पर, छज्जों पर, खिड़कियों और झरोखों के पीछे लोग मुनादी सुनने के लिए इकट्ठे होने लगते थे। इस ढोल में एक धड़कन-सी थी, जो दिल पर अपना असर किए बिना नहीं

रहती थी। लेकिन कैण्टोन्मेण्ट में यह ढोल पहली बार बज रहा था, और उसे सुनते ही जैसे हमारे रोंगटे खड़े हो गए थे कि कौन कैण्टोन्मेण्ट में मुनादी करने का दुस्साहस कर पा रहा है।

'किसी जलसे की मुनादी है,' जितेन्द्र बोला, 'कल बंबई में गिरफ्तारियां हुई हैं, शायद उसी सिलसिले में कोई जलसा हो रहा होगा।'

'लेकिन कैण्टोन्मेण्ट में मुनादी करने से क्या लाभ?' भाटिया ने कहा, 'यहां तुम क्या अंग्रेजों में कांग्रेस का प्रचार करने आए हो?' उसने उत्तेजित होकर कहा।

ढोल की आवाज नजदीक आ रही थी।

'चलो, बाहर चलकर देखते हैं।' मैंने सुझाव दिया।

'नही-नहीं, ऊपर चलकर खिड़की में से देख लेते हैं। सब कुछ नजर आ जाएगा।' भाटिया ने जोड़ा।

मैं बाहर जाकर देखने को उतावला हो रहा था, लेकिन जितेन्द्र के समझाने पर कि ऊपर की मंजिल से, खिड़की में से देखना ही सही होगा, हम ऊपर चढ़ गए।

हम खिड़की के पास पहुंचे ही थे कि चौराहे की ओर से एक तांगे ने मोड़ काटा और भाटिया की दूकान की ओर बढ़ने लगा। तांगे के ऊपर तिरंगा लहरा रहा था, और स्वच्छ नीले आकाश और कैण्टोन्मेण्ट की हरियावल पृष्ठभूमि में बड़ा सुंदर और उजला-उजला लग रहा था। उसी तांगे में से ढोल बजने की आवाज भी आ रही थी, धम्-धम्-धम्-धम्। सड़क पर आते-जाते लोग ठिठककर रुकने लगे—बैरे, छोटे दूकानदार, यहां तक कि स्कर्ट पहने कुछ ऐंग्लो-इण्डियन लड़कियां, दो-एक गोरे सिपाही भी। सभी को शायद इस धृष्टता और दुस्साहस पर हैरानी हो रही थी कि कांग्रेस का प्रचार करने कोई कैण्टोन्मेण्ट में कैसे आ पहुंचा है!

तांगा ऐन भाटिया की दूकान के सामने आकर खड़ा हो गया और उसी क्षण भाटिया थोड़ा सरककर पीछे हो गया।

फिर एक दुबला-पतला आदमी तांगे की अगली सीट पर से उठकर खड़ा हो गया। पीला जर्द चेहरा, घर के धुले सफेद खादी के कपड़े, पर मुचड़े हुए। उसके चेहरे पर पसीने की परत जैसे चमक रही थी। वह उठा और एक पैर तांगे के बम पर रखकर, जिससे वह लहराते झण्डे के नीचे आ गया—मुनादी की इबारत बोलने लगा। उसने एक शेर पढ़ा जो शायद शहीदों के बार में था, फिर भाव-विह्वल-सा होकर ऊंची आवाज में बोलने लगा, 'साहिबान, आपने सुना होगा कि कल रोज बम्बई में हमारे नेताओं को पकड़-पकड़कर जेल में डाल दिया गया है। सरकार की इस शर्मनाक कार्रवाई के विरूद्ध सभी भारतवासी अपनी आवाज उठाएं। आज के दिन सभी बाजार, सभी दूकानें बंद रहेंगी। मैं इस बाजार के दूकानदार भाइयों से भी दरख्वास्त करूंगा कि अपनी-अपनी दूकानें बंद कर दें और शाम को छह बजे कंपनी बाग में आम पब्लिक जलसा होगा...'

फिर वह भाटिया की दूकान की ओर झांक-झांककर देखने लगा। दूकान के बाहर कोई कारिंदा नहीं आया था। वहां किसी को न देखकर उसकी आंखें ऊपर को उठीं, जहां खिड़की में हम तीनों खड़े थे। हमें देखकर उसने हाथ बांध दिए और दूकान बंद करने का आग्रह करने लगा। भाटिया ने वहीं खड़े-खड़े हाथ के इशारे से उसे आगे बढ़ जाने को कहा, वैसे ही जैसे किसी भिखमंगे को आगे बढ़ जाने का इशारा किया जाता है। पर, इस पर भी जब वह बोलता गया, तो भाटिया पीछे हट गया और उसकी नजर से दूर हो गया।

थोड़ी देर बाद ढोल फिर से बजने लगा और तांगा आगे बढ़ने लगा। सड़क पर खड़े इक्के-दुक्के लोग बिखरने और अपनी-अपनी राह जाने लगे।

'कितनी बड़ी बेवकूफी यह आदमी कर रहा है,' भाटिया ने छूटते ही कहा, 'इसे तो फौजी अफसर गोली से उड़ा देंगे। कैण्टोन्मेण्ट में कांग्रेस की मुनादी करना, क्या कोई *मजाक है! और फिर, दूकानें बंद करने को कह रहा था!'*

बाद में हमें पता चला कि वही मुनादी करने वाला युवक हठ करके तांगे को कैण्टोन्मेण्ट में ले आया था, यह जानते हुए भी कि कैण्टोन्मेण्ट में जाना मौत के मुंह में जाना है। यह भी पता चला कि वह शहर के अपने साथियों से गले मिलकर आया था कि जाने अब कभी भेंट होगी या नहीं! और सचमुच फिर भेंट नहीं हुई थी, क्योंकि उसी रात पुलिस के डंडों से खोपड़ी फूट जाने पर उसने दम तोड़ दिया था। लेकिन इन सब बातों का पता हमें बाद में चला। उस वक्त तो लहराते तिरंगे के साथ ढोल बजाता तांगा आगे मेसी गेट की ओर बढ़ गया था। उसके यों आ जाने से जो बिजली की सनसनाती लहर-सी दौड़ गई थी, वह अभी भी हमें उद्वेलित कर रही थी।

'बड़े साहस का काम है, इस तरह कैण्टोन्मेण्ट में आकर मुनादी करना।' जितेन्द्र ने कहा।

'यह साहस नहीं, पागलपन है। तुम्हारी आवाज को यहां कौन सुनेगा? क्या तुम गोरे फौजियों में अपना प्रचार

करने आए हो? क्या वे हिंदुस्तानी दूकानदार, जिनकी रोजी अंग्रेजों पर निर्भर करती है, तुम्हारे प्रचार के चक्कर में आकर अपनी दूकानें बंद कर देंगे? तुम आखिर किस मकसद से यहां आए हो?'

भाटिया और जितेन्द्र के बीच बहस होने लगी, बात मुनादी से हटकर अहिंसा पर आ गई, फिर गांधीजी की दार्शनिक दृष्टि पर, और इसी तरह परत-दर-परत सिद्धांत खुलने लगे।

इस बीच हमें ढोल की आवाज सुनाई देनी बंद हो गई। शायद मेसी गेट के आगे निकल जाने पर आवाज बहुत धीमी पड़ गई थी। धीरे-धीरे वह आवाज वायुमंडल में खो गई और धीरे-धीरे उसका स्पंदन भी शांत होने लगा। बाद में हमें पता चला कि वहीं, मेसी गेट के ही थोड़ा आगे, जहां कैण्टोन्मेण्ट का बड़ा बाजार शुरू हो जाता है, एक जगह पर किसी ने तांगे को रोका, फिर किसी ने बढ़कर मुनादी वाले के मुंह पर थप्पड़ रसीद किया और उसे घसीटकर तांगे पर से उतार लिया। फिर आनन-फानन पुलिस आ गई और झगड़े की तह तक पहुंचने के लिए उस दुबले-पतले युवक को हिरासत में ले लिया और फिर हमारे शहर में उसका पीला चेहरा कभी देखने को नहीं मिला।

ढोल की आवाज ठंडी पड़ जाने के बाद देर तक भाटिया और जितेन्द्र के बीच बहस होती रही। जितेन्द्र अहिंसा का भक्त था, जब कि भाटिया चरखा और खादी के साथ-साथ अहिंसा की खिल्ली उड़ाया करता था। उसका कहना था कि इसने देश को नपुंसक बना दिया है। जितेन्द्र को अहिंसा में एक नया तजुर्बा नजर आता, जबकि भाटिया उसे एक बुढ़ऊ की सनक और नपुंसकता का नाम देता। उन्हें बहस करते देखकर लगता कि इंसान मुख्यतः बहस करने वाला जीव है, यही उसका एकमात्र नैसर्गिक गुण है।

हमने दिन का भोजन भाटिया से साथ ही किया और वहीं उसके सोफों पर पसर गए। फिर शाम हुई। दूकान बंद होने का वक्त आ गया। दूकान के हैडक्लर्क ने दूकान बंद करके चाबियां भाटिया को पहुंचा दीं। चांदी के गिलास में भाटिया शर्बत पीता रहा और जितेन्द्र और मैं बढ़िया विलायती प्यालों में चाय पीते रहे।

तभी सिनेमा जाने का प्रोग्राम बना। कैण्टोन्मेण्ट के दो सिनेमाघरों में से एक में ग्रेटा गार्बो की फिल्म दिखाई जा रही थी, जिसे न देखना बहुत बड़ी हिमाकत होती।

उस दिन सिनेमा देखने जाना भूल थी। भाटिया जैसा सुलझे दिमाग का आदमी भी बात भूल गया कि मुनादी घूम जाने के बाद कैण्टोन्मेण्ट में तनाव व्याप्त होगा, कि ढोल के साथ तिरंगे का कैण्टोन्मेण्ट में घूम जाना ही उत्तेजना का कारण बन सकता है।

●●

इंटरवल में भाटिया को बाथरूम जाने की जरूरत महसूस हुई। आम तौर पर वह सिनेमा की लेवेटरी में नहीं जाया करता था, क्योंकि वहां गोरे फौजी भरे रहते थे और हिंदुस्तानियों के लिए अलग से कोई पेशाबघर नहीं था। देसी लोग सिनेमाघर के लंबे-चौड़े पार्क में, जहां इंटरवल के वक्त अंधेरा छा चुका होता था, छिपे-लुके जमीन पर, या किसी पेड़ की ओट में, या झाड़ियों के पीछे हाजत रफा कर लिया करते थे।

पर भाटिया गोरों वाले पेशाबघर में जा पहुंचा। सिनेमाघर का शौचालय गोल दायरे की शक्ल का था, जिसमें एक गोल चक्कर में छोटी-छोटी पार्टीशन के साथ बहुत-से पात्र लगे थे। भरे पेट खाली करने के लिए, इंटरवल की घंटी बजते ही, गोरे सैनिक भागते हुए पेशाबघर की ओर लपकते थे। यहां भाटिया की जो गति हुई, उसे बयान करना आसान नहीं, इंटरवल होते ही गोरों का रेला अंदर आया। कुछेक ने अंदर आने से पहले ही पतलून के बटन खोल लिए थे। सारा गोल चक्कर एक ही बारी में भर गया। अपने सामने सफेद कमीज और सफेद पतलून पहने काली गर्दन-वाले एक हिंदुस्तानी को खड़ा देखकर एक गोरे ने झट-से उसे धक्का दिया और उसकी जगह स्वयं खड़ा हो गया।

'आइ बेग योर पार्डन!' भाटिया ने कहा और गोरे की ओर देखकर बत्तीसी निकालते हुए बड़ी शिष्टता से बाईं ओर वाले अगले पात्र के सामने जा खड़ा हुआ। गोरे फौजी बराबर अंदर चले आ रहे थे और किसी को फुरसत नहीं थी कि थोड़ा इंतजार कर ले। एक और गोरे ने कोहनी से धकेलकर भाटिया को अपनी जगह से हटा दिया। भाटिया वह जगह छोड़कर तीसरी जगह लपककर जा खड़ा हुआ जो उसी वक्त खाली हुई थी, पर वहां भी उसके साथ वैसा ही बरताव हुआ। अब तो भाटिया मजाक की चीज बन गया। गोरे जान-बूझकर उसे धक्के देने लगे—कभी बाएं से, कभी दाएं से। भाटिया की सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई। भागने तक की उसमें हिम्मत नहीं रह गई थी।

जब उसे होश आया, तो वह सिनेमाघर के पार्क के बीचोबीच खड़ा था, उसके हाथ में तर-ब-तर रूमाल था, जिससे वह अपने को बार-बार पोंछ रहा था। उसके मन की

क्या दशा रही होगी, कौन-सी भावनाएं उसके दिल को मथ रही होंगी—ग्लानि की, आत्मग्लानि की, क्षोभ की, क्रोध की, मैं नहीं जानता!

●●

हम लोगों को यह सारा किस्सा बाद में मालूम हुआ। उस वक्त हम लोग सिनेमाघर के अंदर बैठे थे, और जब वह देर तक नहीं लौटा, तो मैं उसे बाहर देखने आया, लेकिन उस वक्त तक वह पार्क में जा चुका था।

जब मैं उसे ढूंढ़ता हुआ उसके घर पहुंचा, तो भाटिया अपने घर की छत पर, खुले आसमान के नीचे खड़ा था। छत के बीचोबीच खड़ा वह धीमी-गहरी आवाज में बुदबुदा रहा था, 'अहं ब्रह्मास्मि! आइ एम द डिवाइन फ्लेम! आइ एम द डिवाइन फ्लेम!' धीरे-धीरे उसकी आवाज ऊंची उठती जा रही थी, मुट्ठियां कस रही थीं और गर्दन और छाती धीरे-धीरे सीधे होने लगे थे। 'आइ एम द डिवाइन फ्लेम! फॉर आइ एम द डिवाइन फ्लेम!'

उसने मुझे नहीं देखा। मेरे खड़े-ही-खड़े उसकी आवाज और ऊंची उठती गई। जाहिर है, उसमें शक्ति का संचार हो रहा था। शायद मेरे पहुंचने के पहले ही उसकी चेतना में से उस शाम की घटना अपनी क्षुद्रता में सूखे पत्ते की तरह झरकर गिर चुकी थी और वह कब का अपमान, तिरस्कार, ग्लानि और क्षोभ के निम्नतम-स्तर से ऊंचा उठ चुका था। और वह ऊपर उठता जा रहा था, और ऊंचा उठता जा रहा था।

●●

अब सोचता हूं, तो शायद उसी समय, दो सड़कें पार कर, मेसी गेट के थाने में पुलिस के डंडों की बौछार के नीचे अधमरा युवक 'भारत माता की जय!' 'महात्मा गांधी की जय!' बुदबुदा रहा था। और जब भाटिया की आत्मा ब्रह्मांड की बुलंदियां छू रही थी, जब वह आस-पास की स्थूल दुनिया से ऊंचा उठ चुका था, चांद-सितारों में से एक हो रहा था, लगभग उसी समय मुनादी करने वाले पीले-दुबले युवक के मुंह से खून बहने लगा था और 'भारत माता की जय!' बुदबुदाते हुए वह थाने के फर्श पर लुढ़क गया था। ❖

जब कहा जाता है कि जगत पदार्थों से भरा है तो असल में यह कहा जाता है कि पदार्थ छोटे हों या बड़े, सब सीमित हैं। अनेक होने का मतलब ही सीमित होना है। प्रत्येक पदार्थ की सीमा है। वह कुछ स्थान घेरता है, कुछ समय तक बना रहता है। पदार्थमात्र देश और काल की सीमा से घिरे हैं। जिसे हम स्थान कहते हैं, या देश कहते हैं वह अनंत बिंदुओं का संघात मात्र ही तो है। कोई भी पदार्थ ले लीजिए। वह अनेक टुकड़ों से बना है। टुकड़े की कल्पना कीजिए। छोटा, और भी छोटा, और भी छोटा—'छोटा' की कोई सीमा है? बरसों सोचते रहिए, और भी छोटा, और भी छोटा। समाप्त नहीं होगा। गणित का पंडित कहता है, किसी वस्तु को अनंत से विभाजित करने पर वह शून्य हो जाता है। परंतु सचमुच क्या शून्य हो जाता है? यह तो मनुष्य की हार है, बुद्धि की असमर्थता है कि और भी छोटा, और भी छोटा सोचते-सोचते वह 'शून्य' पर पहुंच जाता है। सो जगत में जो कुछ भी दिख रहा है, वह अनंत शून्यों का संघात है! और काल की बात भी सोचिए। जो आने वाला है और जो बीत गया, दोनों कभी थे या होंगे, इसका कोई सबूत है? प्रत्यक्ष तो केवल एक क्षण है। हम सिर्फ एक क्षण को जानते हैं। परंतु क्षण वह छोटे-से-छोटा है। कल्पना कीजिए, हम जिस वर्तमान को प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं वह कितना है? एक क्षण। और भी छोटा, और भी छोटा, और भी छोटा—कुछ नहीं, शून्य! अर्थात् काल भी अनंत शून्यों का संघात है। वह एक प्रतीतिमात्र है। सो यह जो कुछ स्थान और काल के रूप में दिख रहा है वह कुछ नहीं है। दादू ने कहा था—'कुछ नाहीं का नाम दे, भरमा यह संसार!' भरम ही तो रहा है यह संसार। जो कुछ नहीं है, उसका कुछ नाम दे देता है और जब नाम दे देता है तो उसका अर्थ भी समझने लगता है। जरा सोचिए कि किसी वस्तु का अनंतवां भाग क्या सचमुच 'शून्य' है? 'अनंत' और 'शून्य' मनुष्य की बुद्धि की पराजय के सूचक हैं, भाषा में चलने वाले काम-चलाऊ शब्द हैं। नहीं तो कैसा अनंत और कैसा शून्य!

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

राजेन्द्र उपाध्याय की कविताएं

मां के नाम

उसने बुना था पृथ्वी को
तरह-तरह की ऋतुओं से मेरे लिए
मखमली हरी घास बिछाई थी
इंद्रधनुष खिलाए थे
उसे मालूम था
मुझे सींचने वाले बहुत लोग नहीं हैं
इसलिए उसने मुझे एक ऋतु दी
पूरी एक वसंत ऋतु
और एकदम पूरा चांद।

●

दुर्घटनाओं के ठीक बीचोबीच
अंधी सुरंगों में
मैं उसे याद करता हूं
और आम की छांव याद आती है
वसंत दस्तक देता है
और नब्ज छूकर बुखार देखती
मां की याद आती है....
मैं
तुमसे कुछ और नहीं
बस मां के लिए
बालिश्त भर धरती
और अपने लिए
मुट्ठी भर आसमान चाहता हूं।

●

टहनियों का बोझ थामे हुए
बालिश्त भर जमीन पर
आसमान को मुट्ठियों में भरे
एक पेड़ की तरह
खड़ी है मां
मुश्किल से पांच फुट की होगी
पर सौ फुट तक छाया
हजार तक हरियाली
और कोसों तक वसंत देती है मां।

●

बहुत बचपन में
उसने पकड़ी थी तितलियां
फोड़ी थी मूंगफलियां
और निकाले थे चांद-सितारे....

चोंच थी उसके पास
चोंच थी गौरैये की
बच्चों के मुंह में दाना रखने वाली
चोंच थी मां के पास
बहुत बचपन में....
कहां है मां
जिसकी छातियों से
फूट पड़ी थी नदियां
उस अनाथ बालक के वास्ते
और तितलियों की तरह/उमंग आया था प्यार...

●

नदी की तरह
लोरी सुनाती हुई मां
धरती/आकाश और पूरी दुनिया को
सुला देती है
मां सूर्योदय नहीं होने देगी
क्योंकि अभी मेरी नींद नहीं टूटी है
मां अमावस रात नहीं घिरने देगी
क्योंकि अभी मैं घर नहीं लौटा हूं।

●

मैं उसके लिए एक फूल हूं
मेरी खुशी से बढ़कर
उसके लिए कोई उत्सव नहीं
और मेरे लिए वह
धरती और स्वर्ग से ज्यादा वैभव है
मैं
तुमसे कुछ और नहीं
मां के लिए
बालिश्त भर धरती
और अपने लिए
मुट्ठी भर आसमान
चाहता हूं...।

❖❖

शीलन

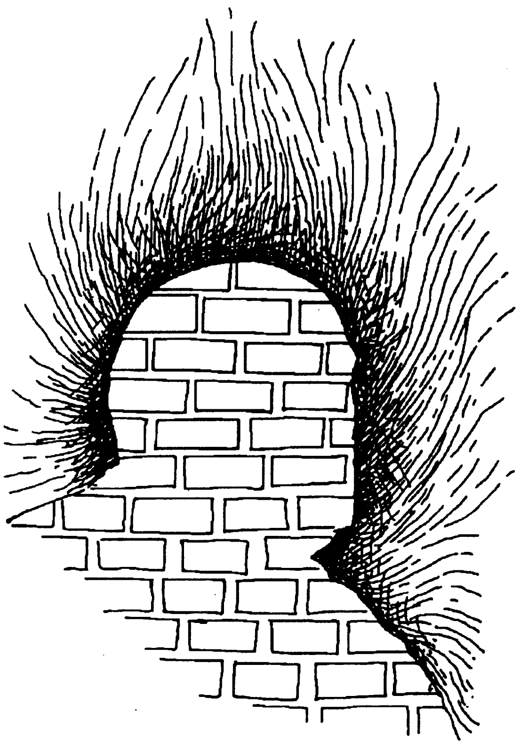

हमें याद रखना चाहिए कि अपरिग्रह का सिद्धांत वस्तुओं की भांति विचारों पर भी लागू होता है। जो मनुष्य अपने मस्तिष्क को व्यर्थ ज्ञान से भर लेता है, वह उस अमूल्य सिद्धांत को भंग करता है। जो विचार हमें ईश्वर से विमुख करते हैं, या उसकी ओर नहीं ले जाते, वे हमारे मार्ग में बाधक होते हैं। इस संबंध में हम गीता के 13वें अध्याय में दी हुई ज्ञान की व्याख्या पर विचार कर सकते हैं। वहां हमें यह बताया गया है कि अमानित्व (नम्रता) आदि ज्ञान हैं, अन्य सब कुछ अज्ञान है। यदि यह सब सच है—और इसके सच होने में कोई शंका नहीं है—तो आज हम ज्ञान समझकर जिसे गले लगाते हैं वह सब निरा अज्ञान है और इसलिए उससे कोई लाभ होने के बजाय केवल हानि ही होती है। इससे दिमाग भटकता है और अंत में खाली हो जाता है। असंतोष फैलता है और अनर्थ बढ़ते हैं। कहना न होगा कि यह जड़ता की वकालत नहीं है। हमारे जीवन का एक-एक क्षण मानसिक या शारीरिक प्रवृत्ति से भरा होना चाहिए। परंतु यह प्रवृत्ति सात्त्विक, सत्योन्मुख होनी चाहिए। जिसने अपना जीवन सेवा के लिए अर्पण कर दिया है, वह एक क्षण भी बेकार नहीं रह सकता। परंतु हमें सत्प्रवृत्ति और दुष्प्रवृत्ति में भेद करना सीखना होगा। सेवा-परायण मनुष्य को यह विवेक सहज ही प्राप्त होता है।

—गांधीजी

आगम साहित्य में ध्यान साधना के बीज बिखरे पड़े हैं। उनका लोप कैसे हुआ—यह आज भी शोध का विषय है। महावीर के बाद कुछ वर्षों तक ध्यान योग की सरिता का प्रवाह जन-जन को आप्लावित करने वाला था, किंतु धीरे-धीरे वह धारा इतनी प्रतनु हो गई कि उसका अस्तित्व भी विलीनप्रायः हो गया।

विच्छिन्न परंपरा को पुनर्जीवन

❑ साध्वी शुभ्रयशा ❑

भगवान महावीर का काल धर्म के प्रयोगों का युग था। आत्मानुभूति के लिए कोई तप की आराधना को श्रेष्ठ मान रहा था, कोई क्रियाकांडप्रधान जीवन जी रहा था और कोई ध्यान की साधना को उत्तम मानकर अपनी मंजिल की दिशा में गतिशील था। ठीक इसके बरक्स भगवान महावीर का दृष्टिकोण सापेक्ष था। वे समन्वय मार्ग के संपोषक थे। उन्होंने विविध ध्यान पद्धतियों को स्वीकार कर अपने जीवन में विविध प्रयोग किए।

आगम साहित्य में ध्यान साधना के बीज बिखरे पड़े हैं। उनका लोप कैसे हुआ—यह आज भी शोध का विषय है। महावीर के बाद कुछ वर्षों तक ध्यान योग की सरिता का प्रवाह जन-जन को आप्लावित करने वाला था, किंतु धीरे-धीरे वह धारा इतनी प्रतनु हो गई कि उसका अस्तित्व भी विलीनप्रायः हो गया। इसीलिए आगमों में अधिकांशतः साधना विधि का निर्देश मात्र मिलता है। विधि तंत्र बहुत कम उपलब्ध है।

अतींद्रिय ज्ञानसंपन्न पुरुष ही आगमरूपी समुद्र का मंथन कर ध्यानरूपी रत्नों को निकाल सकते हैं। यह सौभाग्य ही है कि आचार्य महाप्रज्ञ जैसे महापुरुष विद्यमान हैं, जो इस कलिकाल मे भी 'उप्पण्णनाणदंसणधरे' की उपमा से उपमित हैं. और आपकी सोच का नया कोण, नई व्याख्या, नया संदर्भ हर प्रबुद्ध मानस को अपनी ओर आकृष्ट करता है। जैन परंपरा में ध्यान की विच्छिन्न होती परंपरा को आपने पुनर्जीवित किया है। आचारांग जैसे गंभीर आगम का मंथन कर उसमें से प्रेक्षाध्यान का नवनीत निकाला है। उसे आधुनिक संदर्भो में प्रस्तुत कर मानव जाति का उपकार किया है। सिद्धांत और प्रयोग की दूरी को पाटने के लिए महावीर के जीवन को आदर्श पुरुष के रूप में व्याख्यायित किया है।

आचारांग के परिप्रेक्ष्य में प्रेक्षा ध्यान का व प्रेक्षा ध्यान के परिप्रेक्ष्य में आचारांग का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि दोनों में आधार-आधेय संबंध हैं। आचारांग में साधना पद्धति का जैसा सूक्ष्म व मार्मिक प्रतिपादन हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। उसी को आधार मानकर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने सरलता और सरसता के साथ-साथ वैज्ञानिक दृष्टि से प्रेक्षा ध्यान का निरूपण किया है। युक्तियुक्त संयोजना से प्रेक्षा ध्यान का जो रूप हमारे सामने आया है, वह अप्रतिम है।

महावीर का दर्शन : जीवंत निदर्शन

उपधान नामक अध्ययन में उल्लेख है—

अवि झाति से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाणं।
उड्ढमहे तिरियं च, पेहमाणे समाहिमपडिण्णे।।

भगवान महावीर ऊकडू आसन में स्थित होकर ध्यान करते थे। वे ऊंचे-नीचे और तिरछे लोक में होने वाले पदार्थों को ध्येय बनाते थे। उनकी दृष्टि आत्म समाधि पर टिकी हुई थी। वे संकल्प से मुक्त थे।

इसे प्रेक्षा ध्यान का आधार सूत्र कहा जा सकता है। सूत्रकार ने एक ही सूत्र में कायोत्सर्ग, शरीरप्रेक्षा और निर्विकल्प ध्यान का संकेत कर दिया है। चूर्णिकार ने इसकी स्पष्ट व्याख्या व टीकाकार ने विवेचन किया है।

प्रेक्षा नामकरण का आधार और उद्देश्य

आचारांग में प्रेक्षा ध्यान के लिए पेहा, पेहमाणे, संपेहा, विपस्सी आदि शब्दों का प्रयोग है। इनका अर्थ है—देखना, गहराई से जागरूकतापूर्वक देखना, ज्ञाता-द्रष्टा-भाव का विकास करना। प्र उपसर्ग पूर्वक ईक्ष् धातु से निष्पन्न प्रेक्षा शब्द का भी यही अर्थ है। राग-द्वेष-रहित भाव से देखना ही वास्तव में देखना है। इस प्रक्रिया से ही

ध्यान का उद्देश्य प्राप्त किया जा सकता है। आचारांग में इसको स्पष्ट करते हुए कहा है—

'अकसाई विगयगेहो सद्दरूवेसुऽमुच्छिए झाति'

महावीर कषाय और आसक्ति से मुक्त होकर शब्दादि इंद्रिय विषयों में अनासक्त होकर ध्यान करते थे। प्रेक्षा ध्यान का उद्देश्य है—वीतराग चेतना का विकास करना। इसकी प्राप्ति अकषाय भाव से ही संभव है। अनासक्ति की चेतना का विकास होने से स्वतः वीतराग चित्तवृत्ति का विकास होने लगता है।

प्रेक्षा ध्यान के ध्येय सूत्र का आधार—

ध्यान अकर्म की साधना है 'अन्तरं च खलु इमं संपेहाए' अंतर आत्मा की संप्रेक्षा करो। 'अप्पाणं संपेहाए' सूत्र से भी यही ध्वनित होता है। अकर्मा का अर्थ भी यही है। भाष्यकार के शब्दों में—'अकर्मा प्रवृत्ति चक्रस्य अपनयनं कृत्वा ज्ञाता द्रष्टा भवति।' ज्ञाता-द्रष्टा-भाव का विकास होने पर ही ध्यान का ध्येय 'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं'—आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने का उद्देश्य फलित होता है। अकर्मा का एक अर्थ है स्रोत का साक्षात्कार करना। ध्यान साधक का स्रोत है अंतर आत्मा, उसका साक्षात्कार करना ही ध्यान का उद्देश्य है।

आत्मदर्शन के हार्द को समझाते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा है—आत्मा अरूपी है, उसे चर्म चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता, उसका केवल अनुभव किया जा सकता है। आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने का अर्थ है—उपयोग आत्मा के द्वारा आत्मा की होने वाली विविध पर्यायों को देखना।

प्रेक्षा ध्यान की महत्त्वपूर्ण इकाइयां सूत्रात्मक शैली में आचारांग में गुंफित हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

प्रेक्षा ध्यान की नींव का पत्थर—

प्रेक्षा ध्यान का आधारभूत तत्त्व है—कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग को ध्यान का आदि और अंतिम बिंदु कहा जा सकता है। कायोत्सर्ग दो शब्दों से निष्पन्न है। काय + उत्सर्ग। काय का अर्थ है—शरीर। उत्सर्ग का अर्थ है—छोड़ना। शाब्दिक दृष्टि से कायोत्सर्ग का अर्थ है शरीर को छोड़ना। तात्पर्यार्थ दृष्टि से इसका अर्थ है शरीर के प्रति होने वाले ममत्व का विसर्जन करना, भेद विज्ञान का अनुभव करना।

आचारांग में कायोत्सर्ग के लिए 'अकुक्कुए' शब्द प्रयुक्त है। भाष्यकार ने इसका अर्थ कायोत्सर्ग मुद्रा या कायगुप्ति किया है। इसी संदर्भ में अध्ययन तृतीय, उद्देशक प्रथम, सूत्र चार का 'आयवं' शब्द भी विमर्शनीय है। आत्मवान पुरुष में यह संबोध जाग जाता है, शब्दादि इंद्रिय विषय पौद्गलिक हैं। आत्मा चैतन्यमय है। पुद्गल व चैतन्य की भिन्नता की अनुभूति भेद विज्ञान का आधार है। इसलिए भाष्य में इसे भेदविज्ञान का प्रतिपादक माना है। आचारांग के आठवें अध्ययन में अनशन के प्रसंग में जीव पृथक, शरीर पृथक की स्वीकृति भी भेद विज्ञान की स्वीकृति है। उत्तरवर्ती साहित्य में कायोत्सर्ग का उद्देश्य बताते हुए कहा है—

देहमइजडसुद्धी सुहदुक्खतितिक्खया अणुप्पेहा।
झायइ य सुहं झाणं, एगग्गो काउस्सग्गम्मि।।

देह जड़ता की शुद्धि, मति की जड़ता की शुद्धि, सुख दुख तितिक्षा, अनुप्रेक्षा और ध्यान कायोत्सर्गरूपी वृक्ष के फल हैं। इन विचारों का आधार आचारांग सूत्र में है। प्रेक्षा ध्यान में इसके सैद्धांतिक और प्रायोगिक पक्ष को विभिन्न संदर्भों में विश्लेषित किया है।

प्रेक्षा ध्यान की महत्त्वपूर्ण यात्रा—

यात्रा दो प्रकार की होती है। अंतर्यात्रा और बहिर्यात्रा। प्राण का प्रवाह जब अनुकंपी-परानुकंपी इड़ा और पिंगला में प्रवाहित होता है—उसे बहिर्यात्रा कहा जाता है। वहीं प्राण का प्रवाह जब सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगता है तो उसे अंतर्यात्रा कहा जाता है। अंतर्यात्रा का मुख्य उद्देश्य है अंतर्मुखता का विकास करना, ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहण करना। अंतर्यात्रा मुख्यतः तीन प्रकार से की जा सकती है।

1. शक्ति केंद्र से ज्ञान केंद्र, 2. शक्ति केंद्र से आनंद केंद्र, 3. शक्ति केंद्र से शक्ति केंद्र।

शक्ति केंद्र ऊर्जा का भंडार है। किंतु जब तक यह शक्ति, शक्ति केंद्र में रहती है, मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार उसका उपयोग नहीं कर सकता। ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहण कर उसको वशवर्ती किया जा सकता है। आचारांग में एक सूत्र है—'पणया वीरा महावीहिं।' भाष्यकार ने महावीथि का अर्थ अहिंसा किया है। अहिंसा कायरों का मार्ग नहीं किंतु वह पराक्रमशालियों का मार्ग है, यहां महावीथि का अर्थ सुषुम्ना करें तो भी संगत प्रतीत होता है। सुषुम्ना मानव शरीर में महापथ है। यही एकमात्र मार्ग है जहां से ऊर्जा का ऊर्ध्वगमन संभव है। प्राणधारा का प्रवाह मस्तिष्क की ओर होने से व्यक्ति की राक्षसी वृत्तियों का दैविक व मानुषिक वृत्तियों में रूपांतरण हो जाता है। महापथ की यात्रा करने वाला पुरुष महापुरुष बन जाता है।

आचारांग में शरीर प्रेक्षा

आयतचक्खू लोग विपस्सी लोगस्स अहो भागं जाणइ, उडढं भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ। यहां 'लोग विपस्सी' शब्द विमर्शनीय है। लोग का अर्थ है शरीर, विपस्सी का अर्थ है देखने वाला। भाष्य में शरीर को देखने वाले को 'लोगविपश्यी' कहा है। शरीर प्रेक्षा में शरीर में होने वाले प्रकंपनों को जागरूकता से देखा जाता है। आचारांग में शरीर प्रेक्षा की दृष्टि से शरीर के तीन भाग किए गए हैं।

1. नाभि का प्रदेश—लोक का तिर्यक् भाग।

2. नाभि से नीचे का भाग—लोक का अधोभाग।

3. नाभि से ऊपर का भाग—लोक का ऊर्ध्वभाग।

शरीर प्रेक्षा करने से विषयों व सुखं-दुख के संवेदनों के प्रति जागरूकता का विकास होता है। जागरूकतापूर्वक शरीर की प्रवृत्ति करने से प्रकंपन, स्पंदन की अनुभूति संभव है।

आचारांग में चैतन्य केंद्र प्रेक्षा

चैतन्य केंद्र साधना की दृष्टि से हमारे शरीर के महत्त्वपूर्ण स्थान हैं। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा पूरे शरीर में व्याप्त है। शरीरशास्त्रीय दृष्टि से जहां-जहां नाड़ी संस्थान हैं, वहां-वहां आत्मा है। जिस स्थान पर चेतना की सघनता हो, उसे चैतन्य केंद्र कहा जाता है। मल्लिषेण ने—'बहुभिरात्मप्रदेशैरधिष्ठिता देहावयवाः मर्माणि'—कहकर उपर्युक्त बात की पुष्टि की है। आयुर्वेद में मर्मस्थान, तंत्रशास्त्र व हठयोग में चक्र व जैनागमों में करण एक ही अर्थ को द्योतित करते हैं। भगवती सूत्र में चैतन्य केंद्रों के लिए 'करण' शब्द का प्रयोग है। करण का अर्थ है—निर्मल चित्त की धारा।

आचारांग में चैतन्य केंद्रों के लिए 'संधि' शब्द प्रयुक्त है। संपूर्ण आयारों में छह स्थानों पर 'संधि' शब्द का उल्लेख है। किंतु सर्वत्र संधि का अर्थ चैतन्य केंद्र नहीं। भाष्यकार ने सूत्र 5/20 में संधि शब्द के दो अर्थ किए हैं—

1. अतींद्रिय चेतना के उदय में हेतुभूत कर्म विवर।

2. अप्रमाद के अध्यवसाय को जोड़ने वाला शरीरवर्ती साधन।

संधि दर्शन का उद्देश्य है वीतरागता की अनुभूति। संधि-मर्मस्थान को देखने वाले का पूरा शरीर करण या विवर बन जाता है, स्फटिक की तरह चैतन्य प्रकट हो जाता है।

जैन परंपरा में महावीर से महाप्रज्ञ तक की ध्यान परंपरा का सिंहावलोकन करने पर ज्ञात होता है कि इन दो महापुरुषों के मध्य काल में अनेक विलक्षण, तेजस्वी आचार्य हुए हैं, जिन्होंने ध्यान योग की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। कालक्रम की दृष्टि से इन्हें सात भागों में बांटा जा सकता है।

क्रम	नाम	काल
1.	भगवान महावीर से आचार्य कुंदकुंद	1,2 शताब्दी
2.	आचार्य कुंदकुंद से आचार्य उमास्वाति और जिन भद्रगणि क्षमाश्रमण	2 से 7 शताब्दी
3.	आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण से आचार्य हरिभद्र	7,8 शताब्दी
4.	आचार्य हरिभद्र से आचार्य रामसेन	8 से 11 शताब्दी
5.	आचार्य रामसेन से आचार्य हेमचन्द्र, शुभचन्द्र	11, 12 शताब्दी
6.	आचार्य हेमचन्द्र से आचार्य यशोविजयजी	12 से 18 शताब्दी
7.	आचार्य यशोविजयजी से आचार्य महाप्रज्ञ	18 शताब्दी से निरंतर

उत्तरवर्ती परंपरा में मंत्र, चमत्कार और प्रदर्शन की भावना मुख्य हो गई और ध्यान साधना की बात गौण हो गई।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने मंद होती ध्यान की धारा को पुनः प्रवाहित किया है। मालाकार की तरह प्रेक्षा ध्यानरूपी धागे में प्रेक्षा की इकाइयों को चुन-चुन कर माला का आकार दिया और महावीर की ध्यान की परंपरा का पुनरुत्थान कर आधुनिक जैन परंपरा में नए इतिहास का सृजन किया। ❖

स्वर्ग के महाद्वार की दरार से नियति जो किरण बिखराती है, हम उससे आलोकित होकर अनवधानपूर्वक किंतु सहज कह उठते हैं—तेजोऽसि मयि तेजो धेहि।

—दुर्गा भागवत

अहिंसा का एक और रूप है—संयम। जो अहिंसा को नहीं जानता, वह संयम को भी नहीं जानता। जो संयम को नहीं जानता, वह अहिंसा को नहीं जान सकता। जितना-जितना संयम, उतनी-उतनी अहिंसा और जितनी-जितनी अहिंसा, उतना-उतना संयम। इस बात को यों भी कहा जा सकता है—जितना संयम, उतना जीवन और जितना असंयम, उतना मरण। यदि मनुष्य के जीवन में संयम का दीप जल जाए तो आतंकवाद के अंधेरों में नई रोशनी फैल सकती है, जातिवाद के भयावह जंगल में सद्भावना और भाईचारे के फूल खिल सकते हैं।

अहिंसा को जानो तो

❑ साध्वी सुमतिप्रभा ❑

भगवान महावीर मात्र कोई एक व्यक्ति नहीं—वह एक सत्य सिद्धांत है। उनके प्रति होने वाली निष्ठा भी व्यक्ति-निष्ठा नहीं, सत्य-निष्ठा है। भगवान महावीर पुरुष नहीं, पुरुषार्थ है। उनके प्रति होने वाली निष्ठा पुरुष-निष्ठा नहीं, पुरुषार्थ-निष्ठा है। भगवान महावीर मानव नहीं, मानवता है। उनके प्रति होने वाली निष्ठा मानव-निष्ठा नहीं, मानवता के प्रति निष्ठा है।

सत्य, पुरुषार्थ और मानवता के प्रति निष्ठा की कमी ही वर्तमान युग की ज्वलंत समस्याओं का मूल कारण है। आधुनिक मनुष्य आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म आदि विषयों को अपना विषय नहीं बनाता। उसका एकमात्र लक्ष्य इस जीवन की अधिकतम सुख-सुविधाओं और भौतिक संसाधनों को प्राप्त करना है। इन संसाधनों को जुटाने में व्यक्ति को कुछ भी करना पड़े, कोई आपत्ति नहीं होती। हिंसा, बेईमानी, शोषण, संग्रह आदि अनैतिक तत्त्वों के सहारे अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए मनुष्य उतावला हो रहा है। उसके सपनों का भव्य प्रासाद भौतिकता की नींव पर टिका हुआ है। उस प्रासाद में रहने वाला व्यक्ति निश्चिंतता, स्थिरता अथवा सुख-शांति का अनुभव नहीं कर सकता।

सामाजिक जीवन सापेक्षता के आधार पर चलता है। जहां सापेक्षता को मूल्य नहीं मिलता, वहां हिंसा का वर्चस्व बढ़ जाता है। हिंसा के तीन रूप होते हैं—जीवनयापन में होने वाली हिंसा, सुरक्षात्मक हिंसा और प्रयोजनशून्य या आक्रामक हिंसा। इसे संकल्पी हिंसा भी कहा जाता है। जब तक इस हिंसा की मनोवृत्ति समाप्त नहीं होगी, समाज में अहिंसा की प्रतिष्ठा नहीं हो पाएगी।

इसी तरह अहिंसा के भी अनेक रूप हो सकते हैं। उनमें एक रूप है—समता। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में मानसिक संतुलन बनाए रखना ही समता है। समता का अभ्यास पुष्ट होने के बाद लाभ-अलाभ, सुख-दुख, निंदा-प्रशंसा आदि द्वंद्वात्मक स्थितियों में अत्यधिक प्रसन्नता और अत्यधिक खिन्नता की स्थिति नहीं होती। अनुग्रह की अमृत वर्षा या निग्रह के कारावास में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं होती।

भगवान महावीर समता के मूर्त रूप थे। उन्होंने समता का उपदेश ही नहीं दिया, उसको जी कर दुनिया को उसका सक्रिय प्रशिक्षण दिया। उनकी समता को अभिव्यक्ति देते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—

'पन्नगे च सुरेन्द्रे च, कौशिके पादसंस्पृशि।
निर्विशेषमनस्काय, श्री वीरस्वामिने नमः।।'

चंडकौशिक सर्प ने भगवान महावीर को काटा, उनके मन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। देवेंद्र ने अपना सिर उनके चरणों में टिकाकर उन्हें वंदना की, उनकी चित्तवृत्ति में कोई अंतर नहीं आया। यह समता का उत्कृष्ट रूप है।

अहिंसा का एक और रूप है—संयम। जो अहिंसा को नहीं जानता, वह संयम को भी नहीं जानता। जो संयम को नहीं जानता, वह अहिंसा को नहीं जान सकता। जितना-जितना संयम, उतनी-उतनी अहिंसा और जितनी-जितनी अहिंसा, उतना-उतना संयम। इस बात को यों भी कहा जा सकता है—जितना संयम, उतना जीवन और जितना असंयम, उतना मरण। यदि मनुष्य के जीवन में संयम का

दीप जल जाए तो आतंकवाद के अंधेरों में नई रोशनी फैल सकती है, जातिवाद के भयावह जंगल में सद्भावना और भाईचारे के फूल खिल सकते हैं। भगवान महावीर की संयम-साधना विलक्षण थी। प्रवृत्ति के तीन स्रोत होते हैं—मन, वचन और काया। इन तीनों में से किसी एक के द्वारा भी जीव की हिंसा हो—यह उन्हें अभीष्ट नहीं था। अपनी दीर्घकालीन साधना के द्वारा संयम के शिखर पर आरोहण कर उन्होंने सिद्धि का वरण किया।

अहिंसा का एक पहलू है—अप्रमाद। भगवान महावीर अप्रमत्त साधक थे। उनकी जागरूकता इतनी प्रखर थी कि प्रमाद उनके निकट ही नहीं आ पाया। प्रमाद के दो रूप हैं—आलस्य और दुष्प्रवृत्ति। दुष्प्रवृत्ति से बचना जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक है अपनी प्रवृत्ति को सत् की दिशा में मोड़ना। इस तथ्य को भगवान महावीर की वाणी में पढ़ा जा सकता है—

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ।।

यतनापूर्वक चलना, खड़े रहना, बैठना, सोना, खाना, बोलना अप्रमाद रूप अहिंसा है। जहां प्रमाद है—वहां भय है, दुख है, हिंसा है। जहां अप्रमाद है—वहां अभय है, आनंद है, अहिंसा है। अप्रमाद के मूर्त रूप श्रमण महावीर ने अपनी साधना के साढ़े बारह वर्षों में केवल एक मुहूर्त नींद ली। उनका शेष जीवन पूर्ण जागरूकता या अप्रमाद का साक्षी रहा।

अहिंसा का एक पहलू है—करुणा। भगवान महावीर सुमेरु के ऐसे शिखर थे, जहां से करुणा का निर्झर सतत प्रवाहित रहता था। वैसे भगवान बुद्ध की करुणा विश्व-विश्रुत है, किंतु भगवान महावीर की करुणा के प्रसंग व्यक्ति को यह सोचने के लिए विवश करते हैं कि क्या एक देहधारी में ऐसी करुणा संभव है? संगम नामक देव द्वारा एक रात में बीस बार मारणांतिक कष्ट देने के बाद जब वह पुनः अपने गंतव्य की ओर लौटने लगा तो उसने देखा कि महावीर की आंखें थोड़ी आर्द्र हैं। संगम ने सोचा—मेरा प्रयोजन सिद्ध हो गया। पर महावीर की आंखों में त्रासजनित आंसू नहीं, करुणा का रस छलक रहा था। महावीर ने संगम को प्रतिबोध देते हुए कहा—'संगम! तेरे कारण मैं इस संसार-सागर को शीघ्र ही पार पाने वाला हूं, किंतु मुझे निमित्त बना कर तुमने जिन निकाचित कर्मों का बंध किया है, उनसे तुम्हारा छुटकारा कैसे होगा? यह सोचकर मेरा मन द्रवित हो रहा है।'

महावीर और अहिंसा दोनों एक-दूसरे के पर्याय बन चुके हैं। उन्होंने अहिंसा को केवल शारीरिक पीड़ा और वाचिक संक्लेश तक ही सीमित नहीं रखा, उनके अनुसार यदि व्यक्ति किसी को मानसिक पीड़ा पहुंचाता है तो वह भी हिंसा ही है। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति को जीवत्व के रूप में प्रतिष्ठित कर उनकी भी अनावश्यक हिंसा न करने का उनका उपदेश आज भी पर्यावरण-समस्या का समाधान बन सकता है।

युगप्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने 'अहिंसा समवाय' की स्थापना कर अहिंसा, शांति और नैतिकता का जीवन जीने के लिए संपूर्ण मानव जाति का आह्वान किया है। भगवान महावीर की 26सौवीं जयंती के अवसर पर सरकार ने भी इस वर्ष को 'अहिंसा वर्ष' के रूप में घोषित किया है। यदि धर्म और राजनीति के संयुक्त मंच से 'अहिंसा प्रशिक्षण' और अहिंसाप्रधान जीवन-शैली को व्यावहारिक रूप दिया जाए तो विश्वास है कि यह अहिंसा देवी वामन का अवतार लेकर एक ही पांव में सारी दुनिया को माप लेगी और इसकी शीतल छांव में समूचा संसार अमन-चैन की सांस ले सकेगा। ❖

पुरुष और महिला एक ही छत के नीचे रहते हैं। देखने में ये एक साथ रहते प्रतीत होते हैं, परंतु वास्तविकता यह है कि सही मायनों में उनमें मैत्री अथवा भाईचारा नहीं होता। एक बार की बात है—एक पिता अपने बच्चे को इस आश्वासन के साथ एक चिड़ियाघर में ले गए कि वे मेमने को शेर के साथ सोते हुए दिखाएंगे। परंतु बच्चे ने पिंजरे में केवल एक ही शेर देखा। पिता ने समझाया कि मेमना शेर के पेट में है। इसी प्रकार का सह-संबंध हम अपने घरों में देखते हैं। शेर और मेमने के इस तरह साथ-साथ रहने में कोई नैतिकता नहीं होती।

—इला र. भट्ट

“ ‘जो आज्ञा मां!’ मेघवरण ने लक्ष्मी की ओर देखा, प्रणाम किया और अपनी तलवार हाथ में लेकर जैसे ही सिर काटने के लिए उठाई कि हाथ रुक गया। बहुत कोशिश करने के बाद भी हाथ नीचे नहीं आया। उसने लक्ष्मी की ओर देखा। लक्ष्मी ने कहा, ‘पुत्र! मैं तेरे त्याग से प्रसन्न हूं। अब तेरे राजा के प्राण और राज्य बच जाएगा। तू सचमुच पुण्यात्मा है।’ ”

बालकथा

सही जीवन

❑ यादवेन्द्र शर्मा ‘चन्द्र’ ❑

वर्धमान नगर में भद्रसेन नाम का राजा था। वह बुद्धिमान था। दूसरों का सम्मान करना जानता था। इससे हर आदमी उसका भी खूब सम्मान करता था।

उसके दरबार में अनेक विद्वान आश्रय पाते थे। सारे अधिकारी शिक्षित थे। वह बहुत ही न्यायप्रिय था। उसके यहां एक ही घाट पर शेर-बकरी पानी पीते थे। राजा की सजगता के कारण कर्मचारी भी अपने कर्तव्य का पालन राज्य के नियमों के अनुसार करते थे।

एक दिन एक युवा उसके दरबार में आया। उसने कहा कि वह चाकरी चाहता है। परदेशी है। संकट में है।

राजा को उस युवक के चेहरे पर सत्य की दीप्ति दिखाई पड़ी। उसने कहा, ‘युवक! तुम्हें हमारे दरबार में नौकरी मिल जाएगी, पर तुम्हारी क्या जरूरत है?’

युवक मेघवरण ने सिर झुकाकर विनम्रता से कहा, ‘राजराजेश्वर! मैं सदैव पांच सौ स्वर्ण मुद्राएं लूंगा।’

पांच सौ स्वर्ण मुद्राओं के शब्दों को सुनकर सारे दरबारी चौंक पड़े। दीवान ने कहा, ‘पांच सौ स्वर्ण मुद्राएं तो महाराज किसी को भी नहीं मिलतीं।’

राजा ने सोचा कि यह जो इतनी बड़ी रकम मांग रहा है तो जरूर इसके पीछे कोई विशेष बात है। उसने कहा, ‘तुम्हारा नाम क्या है?’

‘मेघवरण, महाराज!’

राजा ने पूछा, ‘तुम क्या-क्या काम करोगे?’

‘महाराज! मैं हर तरह का काम करने को तैयार हूं। चाहे वह कितना ही खतरनाक क्यों न हो?’

राजा ने मेघवरण को अपने यहां रख लिया। कोषाध्यक्ष को बुलाकर कहा कि मेघवरण को हर रोज पांच सौ स्वर्ण मुद्राएं दे दी जाएं। साथ ही उसने एक गुप्तचर से कहा कि वह इस बात की जांच-पड़ताल करे कि यह इतने रुपयों का क्या करता है?

मेघवरण पांच सौ मुद्राएं लेकर घर गया। उसके पत्नी और एक-एक पुत्र-पुत्री थे। परिवार का हर सदस्य शिक्षित, गुणी और दयालु था।

मेघवरण ने अपनी नियुक्ति के बारे में अपने घर वालों को बताया। उसने बताया कि संभवतः राजा उसे रात को अपनी सुरक्षा के लिए नियुक्त करे।

उसने पांच सौ स्वर्ण मुद्राओं के चार हिस्से किए। एक हिस्सा उसने साधु-संन्यासियों को दान कर दिया। वह त्यागी, तपस्वी और मनुष्य को सही दशा-दिशा बताने वाले साधुओं को ही दान देता था। पाखंडियों से उसे बड़ी चिढ़ थी।

इसके बाद एक हिस्सा यानी एक सौ पच्चीस मुद्राएं लेकर वह गरीब मोहल्ले में गया। वहां उसने

पूछा कि यहां सबसे गरीब परिवार कौन-सा है? उसका पता लगा कर उसने उस परिवार को वे मुद्राएं दे दीं। कहा कि वह इनसे अपने परिवार का भरण-पोषण करें। बच्चों को पढ़ाएं। उन्हें योग्य बनाएं। तीसरा हिस्सा लेकर वह बाजार गया। वहां उसने पक्षियों के लिए दाना खरीदा। एक घास वाले से कहा कि वह हजार मन चारा जंगल के उन भागों में डाल दे जहां पशु रहते हैं। पानी वाले से कहा कि वह जंगल में पानी डाल दे।

पानी डालने वाले ने कहा कि पानी डालने के लिए न तो जंगल में बर्तन हैं और न कुंडियां। ऐसी स्थिति में पानी कहां डाला जाएगा? बस, फिर क्या था। तुरंत संपूर्ण जंगल में दूर-दूर तक कुंडियां बनाई गईं। उनमें पानी भराया गया। मेघवरण हर रोज यह कार्य खुद की देख-रेख में करता था। शेष एक हिस्सा अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए रखता था।

पूरे सात दिनों तक जांच-पड़ताल के बाद गुप्तचर ने सारी सूचना राजा को दी। राजा को भी मेघवरण की बातें थोड़ी विचित्र लगीं। लेकिन उसने उसे पूछना उचित नहीं समझा। राजा ने उसको रात के समय अपनी रक्षा के लिए लगाया। वह दिन भर अपने कार्यों को पूरा करके रात को राजा के महल के आगे चला जाता था। वह सावधानी और सजगता से पहरा लगाता था।

कई बार राजा के पास बैठ जाता था। एक दिन राजा अपनी उत्सुकता को दबा नहीं पाया। पूछ बैठा, 'मेघवरण! तुम जो कुछ भी कर रहे हो, वह सराहनीय है, लेकिन इस तरह के कार्यों से तुम्हें क्या मिलेगा?'

'महाराज! मैं चाहता हूं कि आपके राज्य में पशु-पक्षी और मनुष्य न भूखा रहे, न नंगा और न बिना घर-झोंपड़े के। महाराज! धन का सही उपयोग क्या है? दूसरों का हित। इसलिए समस्त धर्मों में नवग्रहों से अलग एक ग्रह है—परिग्रह। मतलब है कि सारा मैं अकेला ही ले लूं। एकदम लोलुप। आप ज़ानते हैं कि लोलुपता से ही लंपटता आती है। इसलिए इस ग्रह को नष्ट करने के लिए इसके आगे 'अ' लगा दिया गया है यानी अपरिग्रह। अपने पास उतना रखो जिससे तुम अपना जीवन-निर्वाह अच्छी तरह कर सको। महाराज! आपने पूछा कि इससे क्या मिलेगा?....भला करने वाला उसकी वापसी नहीं चाहता। यश नहीं चाहता। जो पुण्य-कार्य, तप, उपवास, व्रत यश के लिए किए जाते हैं, वे व्यर्थ हो जाते हैं। उनका पुण्य भी नहीं मिलता।'

उसकी बात राजा के गले उतर गई। उसने सोचा कि मेघवरण बहुत ही विद्वान और ज्ञानी है।

उसी समय राजा ने सवाल किया, 'मेघवरण! दरबारी कई बार मुझसे पूछते हैं कि आखिर इस मेघवरण को एक माह की पंद्रह हजार स्वर्ण मुद्राएं किस महत्त्वपूर्ण काम की दी जा रही हैं?'

मेघवरण ने मुस्कराकर कहा, 'महाराज! यह तो समय ही बताएगा।'

उसी समय किसी के रोने की आवाज़ सुनाई पड़ी। स्त्री का करूण क्रंदन था। राजा ने तुरंत कहा, 'मेघवरण! पता लगाओ कि आधी रात को कौन रो रही है?'

मेघवरण ने तुरंत अपनी दुधारी तलवार ली और वह आवाज का पीछा करने लगा। राजा ने सोचा कि अकेला मेघवरण संकट में न पड़ जाए। इसलिए वह भी पीछे-पीछे चल पड़ा।

रोने की आवाज श्मशान घाट से आ रही थी। वहां एक स्त्री रो रही थी। मेघवरण ने रोने का कारण पूछा तो उस स्त्री ने कहा, 'मैं राजलक्ष्मी हूं। तुम्हारे राजा के पुण्य समाप्त हो गए हैं अतः मैं इस राज्य को छोड़कर जा रही हूं। मेरे जाते ही यह राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा। राजा स्वयं मर जाएगा।'

'देवी! कोई उपाय?'

'कोई पुण्यात्मा अपना बलिदान दे।'

मेघवरण ने विनीत स्वर में कहा, 'देवी मां! मैंने अपनी जानकारी में कोई पाप नहीं किया। मैं अपने राजा के लिए अपना बलिदान दूंगा, पर देवी मां, आप यदि क्षमा करें तो एक प्रश्न करूं?'

'करो!'

'मां! देवी-देवता जीवन देते आए हैं, लेते नहीं। फिर आप जीवन क्यों लेती हैं? बलि तो पाप है, हिंसा है, अधर्म है।'

'पुत्र! विश्वास को मत तोड़ो। जो उपाय है, वह उपाय ही है। यदि अपने राजा को बचाना चाहते हो तो बलिदान दो। शंका न करो।'

'जो आज्ञा मां!' मेघवरण ने लक्ष्मी की ओर देखा, प्रणाम किया और अपनी तलवार हाथ में लेकर जैसे ही सिर काटने के लिए उठाई कि हाथ रुक गया। बहुत कोशिश करने के बाद भी हाथ नीचे नहीं आया। उसने लक्ष्मी की ओर देखा। लक्ष्मी ने कहा, 'पुत्र! मैं तेरे त्याग से प्रसन्न हूं। अब तेरे राजा के प्रांण और राज्य बच जाएगा। तू सचमुच पुण्यात्मा है।'

लक्ष्मी अदृश्य हो गई। मेघवरण ने उसकी चरण धूलि ली और महल लौट आया। राजा इसके पूर्व ही महल में आ गया और सोने का बहाना करने लगा। मेघवरण भी अपने पहरे पर तैनात हो गया।

× × ×

दूसरे दिन राज दरबार में राजा भद्रसेन ने अपने प्रतिष्ठित दरबारियों को रात की सारी घटना सुनाकर कहा, 'यह मेघवरण का ही पुण्य-प्रताप है कि आज आपका राजा और राज्य बच गया। हम सबको इसका आभार मानना चाहिए।'

सब दरबारियों ने मेघवरण का आभार माना, पर मेघवरण ने इसे एक चाकर का कर्तव्य और धर्म कहा।

राजा ने घोषणा की—आज से प्रजा से उतना ही कर लिया जाएगा जिससे राजा, राज्य परिवार, राज्य और सेना का खर्च चल सके। इसके अतिरिक्त किसी तरह का कर वसूलना अपराध होगा। राज्य के खजाने का अतिरिक्त धन राज्य के विकास के लिए लगा दिया जाए ताकि प्रजा का एक-एक आदमी, पशु-पक्षी सुख से जी सकें। अब राज्य में भयानक से भयानक अपराधी को मृत्युदंड नहीं दिया जाएगा। उसे केवल कैद की सजा होगी। मेघवरण इस राज्य का सर्वोपरि प्रमुख होगा। उसकी आज्ञा का पालन हर एक को करना होगा।

इन घोषणाओं के बाद वर्धमान राज्य स्वर्ग-सा हो गया। ❖

आज का विज्ञान हमारी अकर्मण्यता के लिए प्रमाण-पत्र देने लगा है; क्योंकि अकेले उसी को अपनी शोधशाला में बैठकर इस बात का निर्णय करने का अधिकार है कि समाजरूपी शरीर-यंत्र में कौन-सा कार्य इंद्रिय-संबंधी नियमों के अनुसार हो रहा है और कौन-सा उनके विरुद्ध? इसका आशय तो यह हुआ कि इस बात का निर्णय हर आदमी स्वयं अपनी बुद्धि और अंतरात्मा से पूछकर नहीं कर सकता; यद्यपि सत्य यह है कि उसकी बुद्धि और अंतरात्मा का निर्णय कहीं अधिक सच्चा और तात्कालिक होता है।

जिस प्रकार पहले धर्माचार्यों के संबंध में और बाद में सरकारी अधिकारियों के बारे में यह संदेह नहीं किया जा सकता था कि समाज के लिए वे ही सबसे अधिक आवश्यक हैं, उसी प्रकार आज वैज्ञानिकों के संबंध में ऐसा लगता है कि उनकी क्रियाएं शरीर-यंत्र के नियमों के बिल्कुल अनुकूल हैं अर्थात् वैज्ञानिक और कलाकार ही शरीर-यंत्र के सबसे बहूमूल्य मेधा-तंतु हैं। लेकिन भगवान इनका भला करें! इसमें तो कोई बुराई नहीं कि ये लोग भी पुराने जमाने के पुरोहितों और दार्शनिकों की तरह लोगों पर शासन करें और खाएं-पिएं, मौज उड़ाएं; किंतु शर्त यह है कि वे उनकी तरह जनता को कुमार्ग पर न ले जाएं।

—लियो टॉल्सटॉय

जैन भारती पाठक पहेली

नियम

1. यह पहेली जैन भारती के जुलाई, 2001 अंक में प्रकाशित सामग्री पर आधारित है, अतः इस पहेली के उत्तर जैन भारती के जुलाई अंक की सामग्री पर आधारित होने चाहिए। 2. प्रकाशित पहेली के हल/उत्तर दिनांक 30 नवंबर, 2001 तक जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर पहुंच जाने चाहिए। प्रत्येक प्रविष्टि पाठक पहेली प्रारूप में ही भरी होनी चाहिए। 3. अधूरे भरे हुए या देर से पहुंचे हलों पर विचार नहीं किया जाएगा। कटी-फटी प्रविष्टियां स्वीकार नहीं की जाएंगी। 4. इस पहेली के सही हल और विजेताओं के नाम दिसंबर, 2001 के अंक में प्रकाशित किए जाएंगे। 5. सर्वशुद्ध हलों में से पुरस्कार का चयन लाटरी-पद्धति द्वारा होगा। प्रतियोगिता में पुरस्कार विजेताओं के बारे में संपादकीय निर्णय अंतिम होगा। इस बाबत कोई पत्र-व्यवहार नहीं किया जाएगा। चयनित प्रथम प्रतियोगी को 151 रूपये का साहित्य अथवा नकद राशि पुरस्कार स्वरूप दी जाएगी, जबकि सर्वशुद्ध हल वाले प्रथम दस प्रतियोगियों को जैन भारती एक साल तक सम्मानार्थ भेजी जाएगी। 6. एक लिफाफे में एक से अधिक प्रविष्टियां भी भेजी जा सकती हैं, लेकिन हर एक प्रविष्टि के साथ कूपन संलग्न करना अनिवार्य है। जिरोक्स (छायाप्रति) या प्रतिलिपि स्वीकार नहीं की जाएगी। 7. लिफाफे पर एक कोने में 'जैन भारती पाठक पहेली' अवश्य लिखा होना चाहिए।

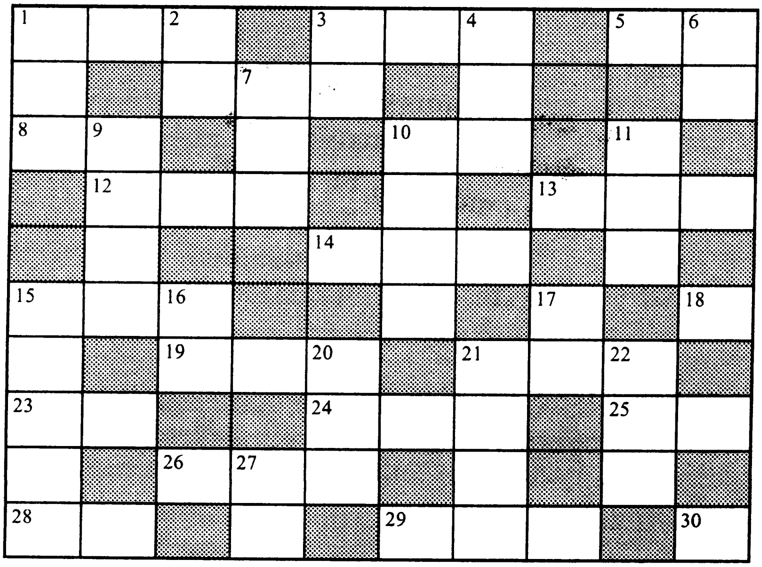

प्रविष्टि कूपन

जैन भारती पाठक पहेली-0020

नाम प्रतियोगी.. उम्र............

पूरा पता...

....

....

बाएं से दाएं

1. जितनी......व सुसंगठित होगी [3]
3. ......के अंगों को उत्तर गुण [3]
5. अपने संयम,......और पुरुषार्थ से [2]
8. पृथ्वी,......, आकाश एवं [2]
10. मत में सचाई का......भी है [2]
12. प्रसारण और......इस प्रकार कर्म [3]
13. 'क्षरण-......के आवर्तनचक्र' में [3]
14. ......मिला—तेरा (तेरह) [3]
15. नवीन......की कविताएं [3]
18. आतम......कारज सारस्यां [1]
19. प्रतिष्ठा के लिए भी......प्रयत्नशील [3]
21. अनेक प्रश्न......-पटल पर उभरने लगे [3]
23. इसी तरह......प्रकार की चिंताएं [2]
24. संस्कारों का स्रोत......-पालन, वातावरण [3]
25. वैसे ही तेज......चल रही [2]
26. मुझे तो......प्राप्ति होने पर ही [3]
28. निमित्त......—प्रकृति, वातावरण [2]
29. आज......परिवार में माता-पिता [3]
30. किरिया......जाणि [1]

ऊपर से नीचे

1. ......बनाया है [3]
2. नए कर्म-......के आगमन को रोकने [2]
3. मज्जा, (शुक्र) का अंतिम......है [2]
4. और न मिलने पर......होना [3]
6. संसार को आलोक का......दिखाया [2]
7. पर......तो यज्ञ का एक प्रतीक मात्र है [3]
9. ......पांच-छह लाख आदमी आए होंगे [4]
10. ......निकाय, बौद्ध-दर्शन [4]
11. मूसलाधार पानी......रहा था [3]
15. करना......जीवन का ध्येय है [5]
16. गंध-......-फास-विसेसिहिं [2]
17. ......जब स्थिर और शांत होता है [2]
20. जिनको......दे दिया जाता है [3]
21. चाहे......हो या वाचिक [4]
22. प्रेम की......प्रवृत्ति से मिलती [3]
27. क्रोध से भी महान और......से अधिक [2]

श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र
कोबा (गांधीनगर) पि. 2001

जैन भारती पाठक पहेली - 0018

सर्वशुद्ध हल व विजेताओं के नाम

1 अ	व	य	2 व		3 व	य		4 आ	शा
मु			5 श	री	र			लो	
6 क	7 स	क				8 च	रा	च	र
	र		9 न	ती	10 जा			ना	
11 ब	ल	12 दे	व		ण		13 दा		14 ए
रा		ह				15 मा	न	सि	क
16 ब	17 ल		18 ह	ता	19 शा				ण
20 र	ह		मा		21 म	त	वा	22 द	
	23 र	24 स	री		त			25 लि	ए
26 णं		ह		27 वि		28 ज	ग	त	

प्रथम चयनित विजेता—स्नेहलता चोरड़िया, आसीन्द

अन्य दस चयनित विजेता

1. अभिजीत सौलंकी, बैंगलोर
2. महावीर सौलंकी, बैंगलोर
3. सज्जन बोहरा, राजसमंद
4. सीमां प्रवीण कोठारी, मुंबई
5. मूंथा बाबूलाल जीरावला, समदड़ी
6. निर्मला बाफना, सिकंदराबाद
7. ज्योति सुराणा, तिरूपुर (तमिलनाडु)
8. शशि जैन, हिसार
9. संतोषदेवी सुराणा, बीकानेर
10. लोकेशकुमार जैन, राजमति (आंध्र प्रदेश)

जैन भारती पाठक पहेली के सभी पुरस्कार (प्रारंभ से ही) बंशीलाल श्रीमाल चेरीटेबल ट्रस्ट तिरपाल उद्योग, फैंसी बाजार, गुवाहाटी (असम) के सौजन्य से।

With best compliments from :

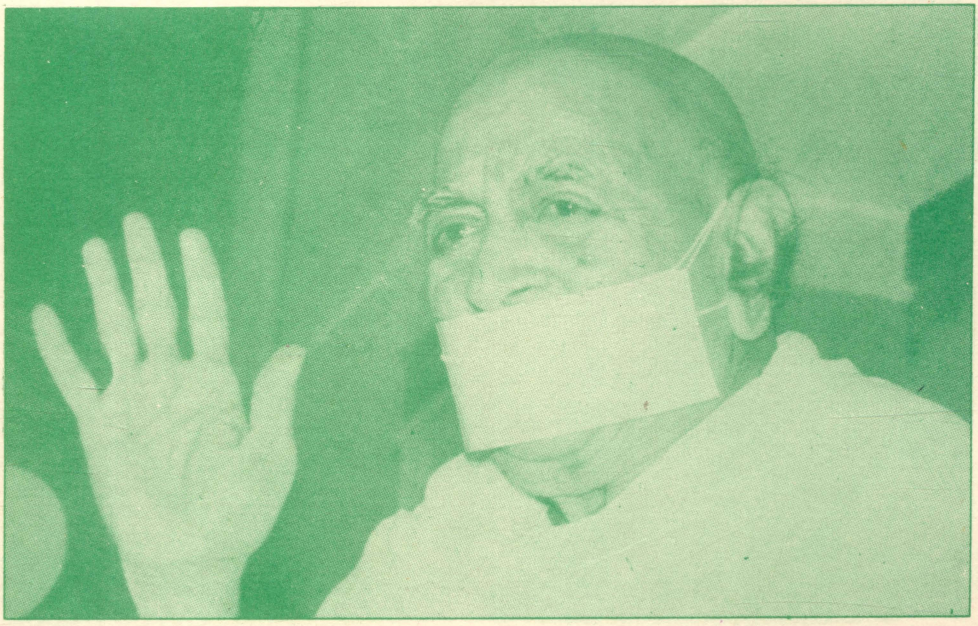

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT- SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

Pemchand Chopra Charitable Trust

W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

•

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust

11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

जैन भारती, अक्टूबर, 2001 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर/11/48/2000

आ. श्री
कैलाससागर
ज्ञानमंदि
कोबा, गांधी

शासन सेवी

जीवराजजी बैद (राजलदेसर)

जन्म : 13 अगस्त, 1941 स्वर्गवास : 7 मई, 2000

Baid Engineers (P) Ltd.

H-8, Civil Township, Rourkela 769004

Phone : 503851

भँवरलाल सिंघी, महामंत्री, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।